पुस्तक :

जीवन संध्या की साधना

सम्पादिका :

श्री उमराव कुंवरजी म० 'अर्चना'

प्रकाशक :

अमरचन्द मोदी

द्वितीय संस्करण

वि० सं० २०३०

संख्या १०००

मूल्य १)५०

प्राप्ति स्थान

(१) अमरचन्द मोदी

चरखी गली

ब्यावर

(२) मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

पिपलिया बाजार, ब्यावर

प्रकाशकीय

बंधुओ !

आपके कर कमलों में 'जीवन संध्या की साधना' नामक यह पुस्तक पहुँचाते हुए मुझे परम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

इस पुस्तक का पहला संस्करण 'समाधिमरण भावना' के नाम से वि० सं० २०१२ में महान् पुण्यात्मा एवं परम तपस्विनी महासतीजी श्री झमकू कुंवरजी म० के आदर्श संथारे के उपलक्ष में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक का प्रकाशन स्व० महासती जी म० के संसार पक्षीय भतीजे डोंडी लोहारा निवासी श्री धनराजजी लोढा ने करवाया था।

वह भूतपूर्व संस्करण साधना पथ के पथिक पाठकों को बहुत ही लाभदायक लगा था और उनकी अत्यधिक मांग होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो गया था।

अमरचन्द मोदी

प्रकाशक :

द्वितीय संस्करण

मेरी बात .... ।

ाठकों !

'जीवन संध्या की साधना' नामक यह पुस्तक ापके हाथों में है। मैंने इसे आद्योपरांत देखा और देख र जाना है कि अगर मुमुक्षु व्यक्ति इसे पढ़े, इस परं नन करे तथा इसके अनुसार अपने जीवन में उत्तम चारों को स्थान देते हुए उन्हें क्रियान्वित करे तो श्चय ही वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

इस पुस्तक में दी हुई आत्मोत्थान की उत्तमोत्तम ठ्य सामग्री का संकलन तथा सम्पादन प्रकांड पंडिता ज्य महासतीजी श्री उमराव कुँवरजी म० 'अर्चना' ने या है। 'समाधिमरण भावना' के नाम से प्रकाशित का पूर्व संस्करण भी आपके पुनीत हाथों से ही ादित हुआ था। पर इस नवीन संस्करण में आपने फी संशोधन कर दिया है तथा कई नई तथा अति ायोगी चीजों की इसमें वृद्धि की है।

आपका परिचय देना तो मेरे लिये सूर्य को दीपक खाने के समान ही धृष्टता करना है क्योंकि जिस ार सूर्य का परिचय प्रत्येक व्यक्ति स्वयं प्राप्त कर

मेरी बात.........।

पाठकों !

'जीवन संध्या की साधना' नामक यह पुस्तक आपके हाथों में है। मैंने इसे आद्योपरांत देखा और देख कर जाना है कि अगर मुमुक्षु व्यक्ति इसे पढ़े, इस पर मनन करे तथा इसके अनुसार अपने जीवन में उत्तम विचारों को स्थान देते हुए उन्हें क्रियान्वित करे तो निश्चय ही वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

इस पुस्तक में दी हुई आत्मोत्थान की उत्तमोत्तम विषय सामग्री का संकलन तथा सम्पादन प्रकांड पंडिता पूज्य महासतीजी श्री उमराव कुँवरजी म० 'अर्चना' ने किया है। 'समाधिमरण भावना' के नाम से प्रकाशित इसका पूर्व संस्करण भी आपके पुनीत हाथों से ही संपादित हुआ था। पर इस नवीन संस्करण में आपने काफी संशोधन कर दिया है तथा कई नई तथा अति उपयोगी चीजों की इसमें वृद्धि की है।

आपका परिचय देना तो मेरे लिये सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही धृष्टता करना है क्योंकि जिस प्रकार सूर्य का परिचय प्रत्येक व्यक्ति स्वयं प्राप्त कर

प्रस्तावना

तपोमूर्ति महासती श्री झमकू कुंवरजी म०
की संक्षिप्त जीवन-रेखा

संसार में जो भी उत्तम वस्तुएं होती हैं, उन सब की कसौटी हुआ करती है। आपको सोने की परीक्षा देनी होगी। सोना सच्चा है या खोटा, यह परीक्षा होने पर ही जाना जा सकता है। बाहर के रंग रूप में सुवर्ण की महत्ता नहीं है। बाह्य दृष्टि से तो सोना और पीतल दोनों एक से मालूम होते हैं। परन्तु जब सोना कसौटी पर कसा जाता है, काटा जाता है, और अग्नि में तपाया जाता है, तभी मालूम पड़ता है कि वह खरा है या खोटा? महाकवि कालिदासजी ने कहा है:—"हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा"

अग्नि में डालने पर ही सोने की कालिमा और विशुद्धि का पता लगता है। पीतल परीक्षाओं को सहन कर नहीं सकता। वह काला पड़ जाता है। परन्तु सोने की यह विशेषता है कि उसे ज्यों-ज्यों तपाया जाता है त्यों-त्यों अधिकाधिक उज्ज्वल होता

है। मुझे एक कवि की उक्ति याद आ रही है:—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते,
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परिक्ष्यते,
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥

जैसे:—घिसने, काटने, तपाने और कूटने से सोने की परीक्षा होती है, उसी प्रकार त्याग, शील, गुण एवं कार्य से मनुष्य की परीक्षा होती है।

महान्-व्यक्ति की परीक्षा भी हमेशा से होती आ रही है। जो विपत्तियों की पाठशाला में उत्तीर्ण होता है, वही महापुरुष बनता है, जो जितना अधिक जीवन की विषम परिस्थितियों में समभाव से रहता है, वह अपना व्यक्तित्व उतना ही ऊंचा बना लेता है।

ऐसी ही हमारी चरित नायका सती शिरोमणि श्री झमकू कुंवरजी थी। उनकी संक्षिप्त जीवनी निम्न प्रकार है.—

चरित नायिका का जन्म मध्यथली प्रान्त सेतरांवा ग्राम में विक्रम स० १९४४ में हुआ था। आप ओसवाल वंशीय थी। पिता का नाम श्री मूलचन्दजी था, माता का नाम मूला बाई था। इस समय आपका परिवार डोंडी लोहारा (म० प्र०) में रहता है। आपका पाणिग्रहण श्री चौथमलजी पारख तिवरी वालों के साथ

"गुणाः पूजास्थानं, गुणिषु न च लिंगं न च वयः"

महासती श्री मगन कुंवरजी म० का जीवन अनेक गुण
जगमगाता था। उनके जीवन का हर पहलू प्रकाशमान
मैंने उस विराट जीवन की बिखरी हुई गुण-मणियों को
स्वर्णकार के समान, जीवन चरित्र रूप स्वर्णपात्र में जड़ने
काम किया है, मेरे हाथों से वह जड़ाई ठीक ठीक न हो, फि
भी मैं धर्मप्रिय जिज्ञासुओं के लिए महासतीजी श्री मगन कुंवर
म० के विशेष गुणों की झांकी दे देना चाहती हूं।

चरितनायिका का चरित्र बल बहुत उच्च कोटि का थ
आपके प्रारम्भिक साध्वी जीवन के लम्बे काल में अनेक प्र

नायिका के हृदय की शान्ति क्षमा एवं सहिष्णुता कभी भंग नहीं होती थी। परन्तु मुख मण्डल पर सदा प्रसन्नता की झलक रहा करती थी। क्या परिचित क्या अपरिचित, जो भी दर्शन करता आपके स्वभाव की सरसता एवं कोमलता देखकर भक्ति से गद्‌गद् हो उठता था। छोटी-बड़ी साध्वियों के प्रति आपका व्यवहार हमेशा मातृवत् रहता था यही कारण है कि आप जहां भी गईं वहीं प्रेम का झरना बहा दिया। द्वेष और कलह की जलती हुई आग को बुझा दिया।

सेवा की भावना तो चरित्रनायिका में कूट-कूट कर भरी हुई थी। इन्होंने दीक्षा लेने के बाद २४ वर्ष अपने गुरुणीजी की सेवा में व्यतीत किए। आप छोटी-बड़ी साध्वियों की तबियत ठीक न होने पर कभी-कभी तो सेवा-शुश्रुषा का भार अपने ऊपर ले लेती थी, सेवा गुण आपके जीवन में प्रारम्भ से ही रहा। आपकी प्रकृति हमेशा विनयशील और सेवा परायण में रही। आपने अपने गृहस्थ-जीवन में सेवा के कारण ससुराल और मायके (पीहर) दोनों जगह प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। साध्वी-जीवन में तो वे गुण और भी वृद्धिगत हो हुए।

तपस्या एवं संथारा

हमारी चरित्रनायिका ने अपने जीवन में लम्बी तपस्याएं की ३५ वर्ष की दीक्षा पर्याय में करीब कई अठाईयां की। दीक्षा लेने के बाद जहां तक आपका शरीर सशक्त रहा प्रायः तपश्चय

संथारे को देख-देख कर जनता आश्चर्यान्वित हो जाती थी। हर समय सतीजी जिनवाणी श्रवण की तरफ ही लक्ष्य रखती थीं। यदि कोई इधर-उधर की बातें करते तो झट कह देती थी कि सुनाओ इधर उधर की बातें मत करो। यह थी जिनवाणी श्रवण की पिपासा।

अन्तिम समय तक खूब जिनवाणी का श्रवण किया। ४५ वें दिन संथारा पूर्ण कर चैत्र वदि अष्टमी सोमवार के रात्रि में ११॥। बजे स्वर्गपुरी में निवास किया।

प्रातःकाल श्मशान यात्रा का जुलूस बड़े ही ठाटबाट के साथ निकाला गया। लोगों के मुख से यह सुन पड़ता था कि ऐसा जुलूस एवं संथारा ब्यावर में अभूतपूर्व हुआ। जुलूस देखने के लिए ब्यावर की जनता उमड़ पड़ी थी। जुलूस के समय रास्ते में एक अनोखी घटना यह हुई कि मंडी को उठाने वाले मनुष्यों पर केशर के छींटे पड़े। उनको देखकर जनता आश्चर्य चकित हो गई।

दूसरे दिन स्थानक में जहां सतीजी का संथारा सीजा था वहां अचित्त पुष्पों की वृष्टि हुई। जहां पर मंडी तैयार करके रक्खी थी वहां पर भी फूल नजर आए। एवं स्थानक में सुगन्ध की अनुभूति होने लगी। यह खबर तुरन्त ही बिजली की तरह सारे शहर में पहुंची। खबर मिलते ही सन्त-सतियां श्रावक-श्राविकाएं देखने के लिए आते थे, और कहते थे कि चौथे आरे का यह नमूना है। धन्य है सतीजी को, धन्य है उनके तपस्यामय जीवन को। आदि शुभ भावनाएं भाते थे। आपका जीवन महान था तो मृत्यु भी महान हुई।

महासती उमराव कुंवर "अर्चना"

हितैषी व्यक्ति की बात सुनकर जिस प्रकार आषाढ़ के मेघ के समान गर्जन करता हुआ सिंह अविलम्ब अपनी गुफा से बाहर आता है तथा चंद क्षणों में ही मदोन्मत्त हाथियों के झुंड को अपनी दृढ़ आत्म-शक्ति के द्वारा वहां से पलायन करने के लिये बाध्य कर देता है, उसी प्रकार सम्यक् ज्ञानी पुरुष अपने आत्मबल से अष्टकर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट कर देता है तथा निर्भय होकर अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता है।

प्रश्न उठता है कि ज्ञानी पुरुष के अंतरंग में आत्मा का अनन्त गुणों से परिपूर्ण, शाश्वत सुख से आप्लावित दैदीप्यमान स्वरूप कैसे प्रगट होता है ?

उत्तर यही है कि आत्मा में सच्ची ज्ञान-ज्योति जगा लेने वाला मोक्षाभिलाषी व्यक्ति आत्मा से भिन्न जो वस्तुएं है उन्हें 'पर' मानता है और पर द्रव्य में किंचित मात्र भी लिप्त नहीं होता। वह भलीभांति समझ लेता है कि आत्मा वीतराग, ज्ञाता, शाश्वत या अविनाशी है और पर द्रव्य क्षणभंगुर, अशाश्वत तथा गलन एवं सड़न स्वभाव वाले हैं।

सम्यक् ज्ञानी पुरुष अपने अन्त समय में क्या विचार करते हैं तथा क्या भावना भाते हैं ?

वे सोचते हैं-"इस शरीर की आयु अब समाप्तप्राय: हो गई है तथा बल क्षीण हो रहा है अतः मुझे सावधान हो जाना चाहिये, किसी भी प्रकार की ढील अथवा विलम्ब करना मेरे लिये उचित

मिलन को 'मेला' नाम दे दिया जाता है और दीर्घकाल तक वह मेला नाम पर्याय बना रहता है। इतने व्यक्तियों का इकट्ठा रहना आश्चर्य जनक भी होता है पर मेला एक दिन बिखरता ही है और उस 'मेला' नामक पर्याय का नाश हो जाता है।"

"इस प्रकार अनन्त परमाणु जब इकट्ठे हो जाते हैं तो उन्हें शरीर नाम पर्याय दे दिया जाता है। मेरा यह शरीर भी इसी प्रकार का है पर अब यह परमाणु शरीर नाम पर्याय रख पाने में समर्थ नहीं है अतः मैं इसे रख नहीं सकता हूं।"

"त्रैलोक्य में जितने भी पदार्थ हैं वे अपने अपने स्वभाव एवं स्वरूप में परिणमते हैं कोई किसी को परिणमाता नहीं। कोई भी किसी का कर्ता या भोक्ता नहीं है। सब अपने आप मिलते हैं, अपने आप गलते हैं, अपने आप बिछुड़ते हैं और नष्ट होते हैं। फिर मैं ही अपने शरीर का कर्ता या भोक्ता कैसे हो सकता हूं? मेरे रखने से यह कैसे रह सकता है तथा मेरे दूर करने पर दूर भी कैसे हो सकता है? मेरा कोई कर्तव्य इसके प्रति नहीं है झूठे कर्तव्य को ही मैंने अपना कर्तव्य माना है। इसीलिये यह अनादिकाल से खिन्न और व्याकुल होता हुआ दुःख का अनुभव करता रहा है। ठीक भी तो है कि जिस पर कोई वश नहीं चलता उस पर द्रव्य का कर्ता बनकर उसे अपने स्वभाव के अनुसार परिणमाना चाहे तो दुःख तो पायेगा ही।"

सत्य तो यही है कि मैं केवल एक ज्ञायक स्वभाव का ही कर्ता

के समान है। ये सब दिखने में और भोगने में तो बड़े रमणीक और प्रिय लगते है किन्तु इनकी वस्तुस्थिति पर विचार किया जाय तो ये कुछ भी नहीं है क्योंकि ये सब अस्थिर हैं, नष्ट होने वाले हैं। यह सब जान लेने के कारण ही मैं इस त्रिलोक में पुद्गल के जितने भी पर्याय हैं, सभी का ममत्व छोड़ रहा हूं। इस शरीर के जाने का मुझे लेशमात्र भी खेद नहीं है। चाहे यह क्षीण हो, रुग्ण हो अथवा नष्ट ही हो जाय मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं। संक्षेप में, यह रहे चाहे जाय मेरे लिये समान ही है।'

"मोह का स्वभाव बड़ा अद्भुत है। इसके वशीभूत होकर संसारी जीव प्रत्येक पर वस्तु जो कि नाशवान है, उसे अपनी मानकर नाना प्रकार के कर्मों का वंधन करता है। परिणाम स्वरूप वह इस लोक में भी दुःखी होता है तथा परलोक में भी दुःख प्राप्ति के कारण जुटाता है। किन्तु मैं इस संसार के स्वभाव का ज्ञाता दृष्टा हो गया हूं तथा भलीभांति समझ गया हूं कि सम्यक्ज्ञान ही मेरा सच्चा स्वभाव है। इस ज्ञान के द्वारा मैं जान गया हूं काल का प्रभाव केवल इस शरीर पर पड़ता है मेरी आत्मा पर नहीं। मै यह समझ कर काल के आगमन से डरता नहीं हूं कि मक्खी जिस प्रकार मिश्री पर ही पुनः पुनः बैठती है अग्नि पर नहीं, उसी प्रकार काल पुनः पुनः शरीर पर ही झपटता है मेरी आत्मा पर नहीं। उससे तो वह दूर दूर भागता है। मेरी आत्मा का वह बिगाड़ भी क्या सकता है? क्योंकि मैं तो अनादि काल से अविनाशी हूं फिर भला मुझ पर

देखो ! इस चेतन के अद्भुत स्वरूप की कैसी महिमा है? इसके ज्ञान के प्रकाश में समस्त ज्ञेय पदार्थ झलक रहे हैं। सब कुछ जानकर भी इसमें कोई विकल्प अथवा सुख-दुख का चिह्न नहीं है। सत्य भी है कि निर्विकल्प, अभोक्ता एवं अतीन्द्रिय होने से इसमें दुख के बजाय बाधारहित, अनुपम तथा अपार सुख उत्पन्न होता है। पर यह सुख संसार के प्रति नहीं है, उसके अपने प्रति है। संसार के प्रति तो दुख ही दुख है। उसमें सुख का आभास केवल अज्ञानी जीव ही करते हैं। परिणाम यही होता है कि वे अपने उस सुख को स्थायी नहीं रख पाते तथा किसी भी समय दुःख के गहरे गर्त में डूब जाते हैं। शास्त्र हमें बताते भी हैं—

> जहा अस्साविणि णावं, जाइ अंधो दुरूहिया।
> इच्छइ पार मागंतु अंतराय विसीयई ।।

—सूत्र कृतांग

अज्ञानी साधक उस जन्मांध व्यक्ति के समान है, जो छिद्रवाली नौका पर चढ़कर नदी के किनारे पहुँचना तो चाहता है, किन्तु किनारा आने से पहले ही बीच प्रवाह में डूब जाता है।

"हाय ! अज्ञानी व्यक्ति की कैसी दयनीय दशा हो जाती है। मैं तो इससे सबक लेकर अब भूल नहीं करूंगा। क्योंकि मैं अपने सम्यक् ज्ञान से जान रहा हूँ कि यह संसार अलग है और मैं अलग हूं। कोई भी पर वस्तु मुझे सुखी नहीं बना सकती।

आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं
ने द्वारा उनकी गर्हा/आलोचना करता है और अपने द्वारा ही
ों का संवर अर्थात आस्रव का निरोध करता है।

इस प्रकार वह किसी की अपेक्षा न करने वाला एक अखण्ड
ति और पर द्रव्य से भिन्न शाश्वत परमदेव है। इसके
र और कोई भी देव त्रिकाल तथा त्रिलोक में पाया नहीं
कता।"

ज्ञान का स्वरूप कैसा है? इसके उत्तर में निस्संकोच और
द रूप से कहा जा सकता है कि यह अपने शुद्ध स्वभाव
कर अन्य रूप में कदापि नहीं प्रणमता। यह कभी भी
रूप की मर्यादा नहीं तोड़ता।"

से प्रकार समुद्र असीम जल राशि धारण किये रहता है
स्वभाव व मर्यादा से बाहर नहीं जाता अर्थात् उसमें उठने
उसी में भ्रमण करती है, उसी प्रकार ज्ञान-समुद्र शुद्ध
पी तरंगों सहित अपने सहज स्वभाव में ही रमण
ऐसी अद्भुत महिमा युक्त मेरा स्वरूप-परमदेव इस
रा अनादिकाल से स्थित है। मेरे शरीर से मेरा
संयोग है। मेरा स्वभाव अन्य और इसका स्वभाव
परिणमन और इसके परिणमन में अन्तर है। यह
स्वभाव रूप में परिणमता है फिर मैं किस बात
? मैं तो तमाशबीन हूँ इसके विद्यमान रहने

से सुख और नष्ट होने से दुख क्यों करूं ? इस लोक में निन्दनीय और परलोक में भी महा दुःखदायी बनने के कारण, इस शरीर पर मेरा न राग है न द्वेष।"

"राग और द्वेष ही आत्मा को भव-भ्रमण कराते रहते हैं। इनका जन्म मोह के द्वारा होता है। जिसका मोह नष्ट हो जाता है उसका राग-द्वेष भी समाप्त हो जाता है। मोह के कारण ही पर-द्रव्य के प्रति ममत्व एवं अहंकार उत्पन्न होता है। वह उं अपना समझता है और जिसे अपना समझता है उसे छोड़ना नहीं चाहता। परिणाम यही होता है कि आत्मा खेदाखिन्न होक कर्मों का बंधन करती है। पर मैं ऐसी भूल नहीं करूंगा औ मोह के कारण होने वाली महा-हानि से बचूँगा। मैं जानता हूँ

सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिच्चमाणेण रोहति ।
एव कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयंगते ॥

—दशाश्रुतस्क

जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो, उसे कितना ही सींचिये, व हरा-भरा नहीं होता। मोह के क्षीण हो जाने पर कर्म फिर हरे-भरे नहीं होते।

"अपने ज्ञान से ऐसा जान लेने के कारण मैंने अपने मं को पहले ही नष्ट कर दिया है। यही कारण है मैं शरीरा सामग्री को अपनी नहीं समझता और इस शरीर के जाते हु

वह ऐसा प्रयत्न करता भी है, किन्तु जब देखता है कि कि[सी]
भी प्रयत्न से झोंपड़ी बच नहीं सकती, रत्न जाने पर ही झोंप[ड़ी]
रह सकती है, तब वह झोंपड़ी का ममत्व छोड़कर रत्नों [को]
बचाता है तथा उन्हें लेकर अन्यत्र चला जाता है। वहां पर उ[न]
रत्नों में से कुछेक को बेचकर भांति भांति के ऐश्वर्य व सुखों
का भोग करता है तथा अनेक प्रकार के स्वर्णमय, रौप्यमय
महल, मंदिर अथवा वाटिकाओं का निर्माण करके राग-रंग
संयुक्त आनन्द-क्रीड़ा करता हुआ समय बिताता है। वह पुन:
वहां पूर्ण निर्भय होकर सुख से रहता है।"

इसी प्रकार भेद विज्ञानी व्यक्ति शरीर के लिये अपने
संयमादि गुणों को दूषित नहीं करते तथा उन्हें खाते नहीं हैं। वे
ज्ञान के द्वारा विचार करते हैं कि यदि मेरे संयमादि गुण सुर-
क्षित रहेंगे तो मैं महाविदेह क्षेत्र में अवतार लेकर सीमन्धर स्वामी
आदि बीस तीर्थंकरों व अन्य अनेक केवली मुनिराजों के दर्शन
कर जन्म-जन्म के पापों का अपने पराक्रम से नाश करूंगा तथा
अनेक प्रकार के [illegible] ग्रहण करूंगा। श्री तीर्थंकर केवली
भगवान के समवशरण में क्षायिक सम्यक्त्व को भी प्राप्त
करूंगा और उनके श्रीमुख से अनेक प्रकार के प्रश्नों के उत्तर
[illegible] समाधान [illegible] को समझूंगा। संसार
[illegible] अभिमान से सर्वथा नष्ट
[illegible]
[illegible] रहूंगा।"

जब मैं इस प्रकार का आचरण करूंगा तब मेरे समस्त कर्म मिट जाएंगे और मैं निष्कलंक हो जाऊंगा। इस प्रकार एवं विशुद्ध बनकर मैं श्री तीर्थंकर देव के निकट दीक्षा । करूंगा और उसके पश्चात् नाना प्रकार की दुष्कर ।। करूंगा। जब अतिशयों से मेरा शुद्धोपयोग अत्यन्त निर्मल जाएगा तब क्षपक-श्रेणी के सन्मुख, होकर कर्म-शत्रुओं से ंगा तथा उन्हें सदा के लिये निर्मूल करके केवल ज्ञान प्राप्त ने के पश्चात् मुझे एक समय में ही समस्त लोकालोक के काल संबंधी चराचर पदार्थ दिखाई देंगे और मेरा यह स्वभाव ाश्वत रहेगा। फिर भला ऐसी अद्भुत शक्ति का स्वामी होते ए मुझे इस शरीर का ममत्व कैसे हो सकता है?"

सम्यक् ज्ञानी पुरुष ऐसा ही विचार करते हैं। वे सोचते हैं- मुझे तो यह शरीर रहे तो भी और न रहे तो भी आनन्द ही आनन्द है। क्योंकि यह रहे तो मैं इस लोक में ही शुद्धोपयोग की आराधना करूंगा और न रहेगा तो परलोक में जाकर भी यही । तरह कर लूंगा। शुद्धोपयोग के सेवन में तो मुझे कोई विघ्न दिखाई देता नहीं है फिर अपने परिणामों में संक्लेश क्यों उत्पन्न होने दूं? मेरे परिणाम अपने शुद्ध स्वरूप में पूर्णतया आसक्त हैं और इस आसक्ति को हटाने में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, धरणेन्द्र अथवा नरेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं है, हाँ केवल मोह कर्म इस कार्य को करने में समर्थ था। पर उसे मैंने पहले ही जीत लिया है। अतः अब मैं मरने से क्यों डरूं? मेरे लिये तो शरीर छोड़ना और न छोड़ना दोनों ही समान हैं, इसके रहते हुए भी

आतम को हित है सुख सो सुख
　　　　　　आकुलता बिन कहिये ।
आकुलता शिव माहिं न तातें,
　　　　　　शिवमग लाग्यो चहिये ॥

वास्तव में हो सम्यक् दृष्टि पुरुष को किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं रखनी चाहिये । उसे केवल अपने आतम--रूप को देखना चाहिये, उसके गुणों का चिंतन करना चाहिये तथा उसी में स्थित रहना चाहिये । शुद्ध स्वरूप के उपयोग से ऐसा विचार

ना चाहिये कि यह संसार अनित्य है। अगर इसमें सार होता तीर्थंकर प्रभु इसे छोड़ने का प्रयत्न क्यों करते ? उन महान् :माओं ने ही जब संसार के समस्त बंधनों को तोड़कर मात्मपद को प्राप्त किया है तो मुझे भी निश्चय ही मस्वरूप में लीन होना चाहिये तथा पंच परमेष्ठी, जिनवाणी रत्नत्रय धर्म की शरण में जाना चाहिये।

रूप विचार

मुमुक्षु पुरुष को अपने शुद्धोपयोग से अरिहंत सिद्ध के त्मिक स्वरूप का अवलोकन करके उनके द्रव्य गुण और पर्याय विचार करना चाहिये और यह विचार करते करते जब उप-ग निर्मल हो जाय तब अपने स्वरूप का चिंतन करना चाहिये अपने स्वरूप के समान अरिहंत सिद्ध का रूप है और अरि- सिद्ध के स्वरूप के समान अपना स्वरूप है। इसलिये द्रव्य भाव में फेर नहीं अपितु पर्याय स्वभाव में फेर है। मैं द्रव्य भाव का ग्राहक हूं। अरिहंत का ध्यान करने से आत्मा का ान सधता है और आत्मा का ध्यान करने से अरिहंत का ान सधता है। अरिहंत के तथा आत्मा के स्वरूप में कोई फर्क ीं है अतः चाहे अरिहंत का ध्यान करो चाहे आत्मा का।

ऐसा विचार करता हुआ सम्यक्दृष्टि पुरुष सावधान होकर ने आत्म-स्वभाव में लीन हो जाता है। वह अपने कुटुम्बियों ममत्व छुड़ाने के लिये मन ही मन विचार करता हुआ ्ता है—

"अहो, इस शरीर के माता पिता ! तुम अच्छी तरह जा
हो कि यह शरीर इतने दिन तक तुम्हारा था किन्तु अब तुम्हा
नहीं है। अब जबकि इसका आयुर्बल क्षीण हो गया है और
किसी के भी रखने से रह नहीं सकता तो इसका ममत्व छोड़ दो
अब भी इससे ममत्व रखकर भला क्या हासिल करोगे ? ।
तो केवल दुःख का ही कारण है। यह शरीर तो एक पर्याय
जो कि इन्द्रादिक देवताओं का भी विनाशक है। समय आ
पर काल देवताओं के समूह को भी उठाकर ले जाता है त
इन्द्र आदि बलशाली देव कुछ नहीं कर पाते, मुंह ताकते ही
जाते हैं। उन में से किसी में भी इतनी शक्ति नहीं होती
काल के पंजे से क्षण मात्र के लिये भी प्राणी को छुड़ा सके
एक-एक करके काल सभी को उदरस्थ कर लेता है।"

देखो ! तुम अज्ञान के वशीभूत होकर पराये शरीर पर
ममत्व रखते हो पर यह तो सोचो कि दूसरों के शरीर की
तो क्या, अपना शरीर भी क्या तुम रख सकते हो ? अगर अपने
शरीर की रक्षा करने में तुम समर्थ होओ तो फिर दूसरों की रक्षा
करने का यत्न करना। पर यह असम्भव है, तुम न तो अपने शरीर
की और न ही औरों के शरीर की रक्षा कर सकते हो। केवल
अपनी भ्रम बुद्धि और मोह के कारण वृथा क्लेश और दुःख
उठाते हो। आज से पहले भी इस संसार में काल ने किसी को
नहीं छोड़ा और अब भी छोड़ेगा नहीं। फिर भी बड़े आश्चर्य
की बात है कि तुम निर्भय बने हुए हो। क्या तुम नहीं जानते कि

का पुत्र, पिता, भाई अथवा माता आदि बनकर आता
ार वह संयोग कभी भी स्थायी नहीं रहा केवल संयोग
ममत्व-भाव के कारण अनेकानेक कर्मों का बंधन ही होता
है।"

"खेद की बात है कि जीव इस संसार में जैसी पर्याय धारणा
है, अपने आपको वैसा ही मानता है और उसी पर्याय में तन्मय
ाता है। वह यह नहीं जानता कि पर्याय का स्वभाव तो
ाश शील है और मेरा स्वरूप नित्य, शाश्वत अथवा
अनाशी है।"

अगर तुम्हें भी ऐसे विचार उत्पन्न नहीं होते तो मैं तुम्हें दोष
हीं देता क्योंकि यह तो मोह का ही महत्तम है जो प्रत्यक्ष और
च्ची बात को झूठ तथा झूठ को सत्यवत् दिखा रहा है। पर
जिसके मोह गल गया है ऐसा भेद विज्ञानी पुरुष इस पर्याय को
से सत्य माने ?"

"मुझे तो यह मोह अब ठग नहीं सकता क्योंकि अब मैं
थार्थ ज्ञान को समझ गया हूं। यद्यपि अनादि काल से मेरी
हुत ठगाई हुई है और इसी कारण मैंने अनेकानेक बार जन्म-मरण
दुःख सहे हैं किन्तु अब जबकि मैं अपने निज स्वरूप को समझ
या हूं, कोई भी मुझे ठगने में समर्थ नहीं है। अच्छा हो कि
म भी भलीभांति जान लो और समझ लो कि मेरा और
म्हारा सयोग इतने ही दिनों का था सो अब पूर्ण हो गया है।
ह जान लेने पर अब तुम्हें आत्म-कार्य करना उचित है, मेरे
रीर पर मोह रखना उचित नहीं।"

रमण करता है। वह अपनी पत्नी से भी ममत्व छुड़ाते ए कहता है—

"देवी ! अब इस शरीर से ममत्व छोड़। तेरा और इस रीर का इतना ही संयोग था। वह पूर्ण हो गया और इस रीर से अब तेरा कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकेगा। अतः मोह को त्याग दे। अगर तेरे रखने से यह शरीर रह सकता है तो मुझे कोई एतराज नही है किन्तु तेरे रखने से भी यह अब रह नहीं सकेगा, इसका मै क्या करूं ? अगर विचार करके देखें तो तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूं। स्त्री पुरुष के रूप में तो यह पर्याय है और पौद्गलिक है। भला उससे प्रीति कैसी ? शरीर जड़ है और आत्मा चैतन्य। इनका संयोग रह भी कैसे सकता है ? जरा विचार कर देख कि इतने दिन भोग किये उससे भी कोई सिद्धि नहीं हुई तो अब कौनसी सिद्धि होने वाली है ? वृथा ही भोगों से आत्मा को संसार में उलझाना है। मृत्यु के समय भी किसी को साथ में नहीं जाना है और उसके पश्चात् तो तीन लोक की संपदा भी आत्मा के काम की नहीं है। इस-लिये मेरे शरीर पर्याय के लिये तुझे खेद या शोक करना उचित नहीं है।"

"अगर तू वास्तव में मुझे प्यार करती है तो इस समय मुझे धर्मोपदेश प्रदान कर और भली भांति समझ ले कि यही तेरे प्यार की सच्ची परीक्षा का समय है। मेरी बात मानने से तेरा और

मेरा दोनों का ही कल्याण है। जिस प्रकार सराय में बटोही
दिन के लिये मिल जाते हैं उसी प्रकार का हमारा मिलाप था
कि अब वियोग में बदलने वाला है। मेरे इस शरीर का
अब बिलकुल कम है और इसमें रही हुई आत्मा के प्रयाण
वक्त आ गया है। अतः मेरा कहना है कि तू मुझ से तनिक
राग मत कर। मेरा तुझ से क्षमा भाव है और अपने लिये
याचना भी है। संसार की यही रीति है, मिलना और बिछुड़
इसके लिये तनिक भी दुःख करने की आवश्यकता नहीं है क्यों
वह कर्म-बंधन का कारण है।"

ज्ञानी पुरुष अपने अंतकाल में अपने पुत्र को भी सदुप
देता हुआ कहता है—"पुत्र ! तुम समझदार हो अतः मुझ
रंज मात्र भी मोह मत रखो। इस संसार में माता-पिता शुभ
कारी अथवा सच्चे सुख के प्रदाता नहीं होते। सच्चा सुख प्र
करने वाला केवल जिनेश्वर धर्म ही होता है। अगर प्राणी मा
पिता को सुख का कर्ता मानता है तो वह मोह के नशे का
है। कोई किसी का कर्ता नहीं और कोई किसी का भोक्ता
नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव का भोक्ता
इसलिये अगर व्यवहार से मेरी आज्ञा का तुम पा
कर सकते हो तो देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ विश्वास तथा प्र
रखो, सह धर्मियों से मित्रता करो, दान, शील, तप एवं भ
से अनुराग बढ़ाओ, स्व और पर के विषय में भेद विज्ञान
उपाय करो तथा सांसारिक प्राणियों से ममत्वभाव छोड़ो क्योंकि

इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए।

—आचारांग

जिस प्रकार बलाका अर्थात् बगुली अण्डे से उत्पन्न है और अण्डा बगुली से, इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न है और तृष्णा मोह से।"

इस प्रकार सम्यक् दृष्टि पुरुष अपना आयुष्य अत्यन्त जानकर अपने नातेदारों को अपने समीप बुलाकर उन्हें नि... एवं मोह रहित बनने का उपदेश देता है तथा स्वयं भी ... निःशल्य होकर समस्त परिग्रहों का त्याग करता हुआ वी... हो जाता है। जो भी दान-पुण्य करना होता है स्वयं क... और उसके पश्चात् अपने आयुष्य को पूर्ण हुआ जानकर आ... के लिये समस्त पर का त्याग कर देता है।

किन्तु जिस व्यक्ति को निश्चय रूप से ज्ञान नहीं है ... मेरा आयुष्य अब पूर्ण हो गया है तो वह दो चार घन्टे, ... घड़ी, काल दिवस आदि की मर्यादा से त्याग करता है, आजी... नहीं। वीर पुरुष मौत से जूझने के लिये निर्भय होकर तैयार ... जाता है उसे रंज मात्र भी आकुलता का अनुभव नहीं होता ... ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार शत्रुओं को जीतने के लिये ... योद्धा निडरता पूर्वक युद्धक्षेत्र में पहुंच जाता है।

शुद्धोपयोगी सम्यक्दृष्टि को मोक्ष लक्ष्मी के पाणिग्रहण ... उत्कट वांछा होती है। वह शीघ्रातिशीघ्र उसे पाना चाहता ... विलम्ब को सहन नहीं करता। उसे केवल यही भय रहता है ... कहीं मेरे स्वभाव में राग ने प्रवेश कर लिया तो शिव-रमणी ...

नहीं हो पायेगी। ऐसा विचार करता हुआ वह किसी प्रकार
य अथवा राग की परिणति नहीं होने देता और काल को
करता है। उसके परिणामों में निराकुलता तथा आनन्द का
म स्त्रोत बहता है तथा वह शांति रस से पूर्ण तृप्ति का अनुभव
ा है। इस प्रकार आत्मानन्द में स्थित शांत परिणाम संयुक्त
धि मरण करने के पश्चात् उसके फल स्वरूप परलोक में वह
दिकों के अतुल वैभव को प्राप्त करता है और वहां से जब
का च्यवन होता है तो राजाधिराज बनता है। उसके पश्चात्
काल तक राज विभूतियों का भोग करने के बाद वह सम्यक्-
पुरुष अरिहंत दीक्षा ग्रहण कर लेता है और संयम का दृढ़ता
पालन करने से क्षपक श्रेणी पर चढ़कर चार घातिय कर्मो
नाश कर केवलज्ञान पाता है जिसमें समस्त लोकालोक के
चर पदार्थ तीन काल संबधी एक ही समय में झलकने लगते हैं।
पर यह अनुपम और अभूत पूर्व उपलब्धि होना सहज नहीं
त्यन्त दुष्कर है। अगर समाधि मरण प्राप्त करने के इच्छुक
क के परिणामों में तनिक भी कचावट आ गई तो जहां वह
की ओर बढ़ने लगता है वहीं पलटकर नरक और निगोद में
चला जा सकता है। कहा भी है:—

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमी क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च॥

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मत में मनोयोग इतना बलशाली
लाया गया है कि वह आधे क्षण में मोक्ष में या आधे ही क्षण में
तवें नरक में पहुँचा देता है।

इसलिये मुक्ति के इच्छुक प्राणी को पूर्ण निर्भयता, निडरता
वीतरागता पूर्वक अपने अंत समय में अडोल समाधिभाव
रण करना चाहिये ताकि उसकी आत्मा सदा के लिये संसार
होकर अक्षय आनंद का अनुभव कर सके।

। कर्म के वशीभूत होकर एक क्षेत्र में अवगाहना युक्त स्थित हो। :में और तुममें अत्यन्त भेद है। यह देह पृथ्वी, जल, अग्नि, न के परमाणुओं का पिंड है सो समय पाकर बिखर जायेंगे। ा अविनाशी अखण्ड ज्ञायक रूप हो। इसके नाश होने में भय ों करते हो।

हे ज्ञानी आत्मा ! तुम्हें वीतरागी सम्यग्ज्ञानी उपदेश करते । तुम मृत्युरूप महोत्सव के प्राप्त होने पर क्यों भय कर रहे हो? ; आत्मा अपने स्वरूप में स्थित है। जैसे कोई एक जीर्ण कुटिया से निकलकर अन्य नये महल को प्राप्त करता है और वहा :सव मनाता है। तेरे भी यह उत्सव का समय है। जीर्ण देह ी कुटी को छोड़ कर नये देह रूप महल को प्राप्त होने के :ोत्सव का अवसर है। जो अपने ज्ञायक स्वभाव में स्थित मोह हेत होकर परलोक जावेंगे तो बड़े आदर सहित दिव्य धातु, ाधातु रहित वैक्रिय देह में देव होकर फिर पूज्य महान देव ाओगे। और भय आदिकों से अपने ज्ञान स्वभाव को बिगाड़ कर ःम समता को छोड़कर मरोगे तो एकेन्द्रिय की देह में अपने ान का नाश कर जड़ रूप को प्राप्त होओगे। ऐसे मलिन क्लेश हित देह को त्याग कर क्लेश रहित देह में जाना तो बड़े उत्साह ा कारण है। पूर्वकाल में हुए गणधरादिक सत्पुरुष ऐसे कहते हैं ि जिस मृत्यु को भली प्रकार प्राप्त कर स्वर्गलोक का सुख ोगते हैं, उस मृत्यु से क्यों भय हो सकता है? अपने कर्त्तव्य ा फल तो मृत्यु के पश्चात् ही मिलता है। जो आज तक छह

राज्य से, पुत्रादिक से स्वाधीन रहना। ऐसे महा बन्दीगृह समान शरीर में से मृत्यु नामक बलवान् राजा के सिवाय कौन निकाल सकता है? इस देह को अब कहाँ तक निभाता जाऊं? नित्य उठाना बैठाना, भोजन कराना, जल पान कराना, स्नान कराना निद्रा लिवाना, कामादिक विषय साधन भोगना नाना वस्त्र-आभरणादि से भूषित करना, रात-दिन इस देह का दासपन करते करते हार गया हूँ। फिर भी यह शरीर आत्मा को तरह तरह का त्रास देता है। भयभीत करता है। अपने में लुभाता है। ऐसे कृतघ्न शरीर से निकलना मृत्यु नामक राजा के बिना संभव नहीं हो सकता। यदि ज्ञान सहित संक्लेश रहित, वीतरागतापूर्वक समाधिमृत्यु रूपी राजा का सहाय ग्रहण करूं तो फिर मेरी आत्मा देह धारण नहीं करेगी। समाधिमरण नामक बड़ा न्याय-मार्गी राजा है। मुझे उसी का शरण हो और मेरी अपमृत्यु का नाश हो।

जो आत्मदर्शी तथा आत्मज्ञानी हैं, वे मृत्यु नामक मित्र से मिलकर सर्व दुःखों को देने वाले देह पिंड को दूर छोड़कर सुख की संपदा को प्राप्त होते हैं। जो इस सप्त धातुमय अशुचि तथा विनाशशील देह को छोड़ कर दिव्य वैक्रिय देह में प्राप्त होकर तरह तरह की सुख-संपदा को प्राप्त होता है, वह समस्त प्रभाव आत्मज्ञानी जनों के समाधिमरण का है। समाधिमरण के समान इस जीव का उपकार करने वाला और कोई नहीं है। इस देह में नाना दुख भोगना और महान् दुष्ट रोगादिक के दुखों को भोग

पूर्वक मरे हुए नीच पुरुष विषयों का सेवन करके लोभी बने
न के लिये एवं विषयभोग के लिए हिंसा, झूठ, चोरी,
ल, परिग्रह में आसक्त होकर निंद्य कर्म करते हो।
वांछित पूर्ण नहीं हुआ तो उसके दुःख के मारे मृत्यु को प्राप्त
। कुटुम्बादिक को छोड़ कर विदेश में भ्रमण करते हो, निंद्य
रण करते हो और निंद्य कर्म करके मृत्यु को प्राप्त होते हो।
एक बार तो समता धारण करो। त्याग, व्रत सहित मृत्यु का
गन करो। फिर संसार-परिभ्रमण का अभाव होकर
नाशी सुख को अवश्य प्राप्त हो जाओगे। इसलिये ज्ञानसहित
त-मरण करना उचित है।

जिस मृत्यु से जीर्ण देहादि से छुटकारा होता है, वह मृत्यु
पुरुषों को आनन्ददायक प्रतीत कैसे नहीं होगी? ज्ञानियों को
मृत्यु आनन्ददायक मालूम होती है। यह मनुष्य का स्वरूप
य ही समय समय में जीर्ण हो रहा है। दिन दिन बल घटना
कांति एवं स्वरूप मलीन होता है। समस्त हड्डियों के बंधन
थिल होते हैं। चमड़ी ढीली होकर उसमें झुर्रियों के रूप होने
ते हैं। नेत्रों की उज्ज्वलता बिगड़ती है। कानों की श्रवण
ने की शक्ति घटती है। हाथ पांव में असमर्थता दिनों दिन
ती है। चलते, उठते, बैठते श्वास आने लगता है। कफ की
धिकता होती है। अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। ऐसे जीर्ण शरीर
दुःख कहां तक भोगे जाएं? ऐसे शरीर को कहां तक
ढोएँ? मृत्यु नामक दातार बिना ऐसे निंद्य शरीर से कौन

छुटकारा कराते ? [illegible] होने का [illegible] जाता है। [illegible] सावधान होकर ऐसा कर, जिससे फिर ऐसे [illegible] धारण न करना पड़े।

जो अज्ञानी है, बहिरात्मा है, वह शरीर में [illegible] हुआ है। मैं दुखी हूं, सुखी हूं, मैं मर रहा हूं, मैं भूखा हूं, प्यासा हूं, मेरा [illegible] हो जायगा, ऐसा जानकर दुःख करता है। पर अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि ऐसा न मानकर सोचता है कि जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा। पृथ्वी जल अग्नि और पवन का पिंड रूप जो शरीर है वह नष्ट होगा ही। मैं तो ज्ञानमय अमूर्तिक आत्मा मेरा नाश कदापि नहीं हो सकता। भूख, प्यास, कफ, पित्तादि रोग मय जो वेदनाएं हैं वह तो पुद्गल की हैं। मैं सिर्फ इनका ज्ञाता हूं। इसमें मैं वृथा अहंकार कर रहा हूं शरीर की अवगाहना में स्थित हूं और स्थित होने से एक ही रहा हूं, पर मुझ में और शरीर में बहुत बड़ा अन्तर है। मैं अ[illegible] और शरीर मूर्तिक है। मैं अखंड एक हूं और यह अनेक परमाणु पिंड है। मैं अविनाशी और शरीर नाशवान् है। शरीर में तृषादि उत्पन्न होते हैं उसको मैं जानने वाला जरूर हूं क्योंकि स्वभाव ज्ञायक है, परन्तु जानकर ममत्व करना ही अज्ञान मिथ्यात्व है।

कोई नये भवन में प्रवेश करे तो उसे कितना आनन्द होता ? उसी प्रकार मैंने अपने शुभ कर्मों से जो नया मकान तैयार र रखा है, उसमें मै अब प्रवेश करूंगा। मुझे उस भवन में जाना । मेरा नाश थोड़े हो रहा है, फिर भला मृत्यु का भय मुझे कैसे हो कता है ? जो ससार में आसक्त हैं उन्हें मृत्यु का भय होना स्वाभाविक ही है। आत्माएं मिथ्यादर्शन के उदय से खाना, पीना, रना, कामभोगादि इन्द्रियों के विषय के सुखों को ही सुख नती हैं। उन्हें अपनी मृत्यु का बड़ा भय लगता है। वे समझते हाय हाय ! अब मेरा नाश हो रहा है। अब मैं खा-पी नहीं गा। मेरे पीछे न जाने क्या क्या हो जायगा। अब सब कुटुम्ब मेरा विछोह हो जायगा।

अब मैं जीने का उपाय करूं ? मुझे कोई बचाओ। इस कार से क्लेश करते हुवे मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

जो आत्मज्ञानी पुरुष हैं, वे मृत्यु आने पर विचार करते —मैं अभी तक देहरूपी बंदीगृह में पड़ा हुआ था। इन्द्रियों के च्छित भोगों को पूरा करने और क्षुधा तृषादि वेदनाओं को सहते ए कभी भी शांति का अनुभव नहीं कर सका। इनकी पराधीनता मैंने अनेकों कष्ट सहे हैं। अपमान, घोर वेदना, अनिष्टसंयोग, ष्टवियोग आदि दुखों को सहते हुए मैंने आज तक का समय यतीत किया। अब ऐसे क्लेश से छुड़ाने के लिऐ मृत्यु आई है। न्म-मरण रहित करके अविनाशी पद को प्राप्त कराने वाली मृत्यु

जीवनसिद्धि का मार्ग

जीवन की जिज्ञासा

जीवन सूरज के प्रभात के साथ जगता है। प्रभात सूर्य के साथ उभरता है। उसके तेज के साथ खिलखिलाता है। उसके [illegible] गति के साथ दौड़ता-भागता है। उसकी सन्ध्या की छाया के साथ लम्बा होता है और उसकी अस्तावस्था के साथ तिरोहित हो जाता है।
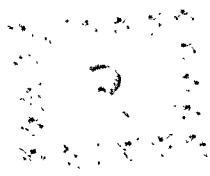
सुबह होती है, शाम होती है।
उम्र यों ही तमाम होती है॥

तो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है? काम और अर्थ ही उद्देश्य है? सांझ-सवेरे वाला ही लोक है?

यदि यों ही श्रम और विश्राम का सिलसिला जारी रहता, यदि यों ही काम और अर्थ का रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था? जीवन और जगत् कभी प्रश्न के विषय न बनते। परन्तु

कोई जीवन नहीं, कोई न [illegible] नहीं, कोई जीवन नहीं । [illegible]
ही यह [illegible] [illegible] सामाजिक जीवन
[illegible] करता है इसी फिर वही मीमांसा, वही वेदना, वही [illegible]
ते हैं । फिर वही [illegible], वही [illegible], वही [illegible] प्रश्न
उपस्थित होती हैं । फिर वही भय, वही शंका, वही [illegible]
शुरू होते हैं । क्या दुःखी जीवन ही जीवन है ? क्या मनुष्य
जीवन ही जीवन है ? यदि नहीं तो क्या है ? उद्देश्य क्या है ?
फिर वही तर्क वितर्क मीमांसा शुरू हो जाती है ।

—: प्रश्न हल करने के विफल साधन :—

जीव ने इन प्रश्नों को हल करने के लिये मतिज्ञान के बहुत तरह काम लिया । उसके विश्वस्त साधनों पर, इन्द्रिय मन और बुद्धि पर बहुत तरह विश्वास किया, इन्हें अनेक तरह से घुमा फिरा कर जानने की कोशिश की । परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया । लौकिक जीवन ही जीवन है । शरीर ही आत्मा है । भोग रस ही सुख है । धन-धान्य ही सम्पत्ति है । नाम ही वैभव है । रूप ही सुन्दरता है । शरीरबल ही बल है । सन्तति ही अमरता है । मान यश ही जीवन है, कीर्ति ही पुण्य है । इन्हें बनाये रखने, इन्हें सुदृढ़ और बलवान् बनाने, इन्हें ही सौम्य सु[illegible] करने का प्रयत्न करना चाहिए । इसी में भलाई है । प्राकृतिक नियमानुसार कर्म करते हुए भोग रस लेना ही जीवनमार्ग है । प्रवृत्ति ही जीवनमार्ग है । सुःख दुख स्वयं कोई चीज नहीं, यह सब वाह्य जगत् के अधीन हैं, वाह्य जगत् की कल्पना पर निर्भर

ात् को दुखदायी कल्पना करने से दुःख और सुखदायी करने से सुख होता है। इसलिये जगत् दुखदायी पहलू को और उसके सुखदायी पहलू को परिपुष्ट करने की जरूरत है।

इस तत्त्व को ही वत्तमान जीव ने उसे अनेक प्रकार से ार करने की कोशिश की। बुद्धि के सुझाये हुए अनेकों मार्गों सिद्ध करने की चेष्टा की। अज्ञान मार्ग को मार्ग बनाया। ा मार्ग का आश्रय लिया। कर्ममार्ग को ग्रहण किया। यान्त्रिक को अपनाया। विज्ञान मार्ग को धारण किया। शिल्पकला ार्ग पर चला। संगठनमार्ग पर आरूढ़ हुआ। नीति मार्ग का म्बन लिया। परन्तु इसके दुःख का अन्त न हुआ। प्रश्न ज्यों ्यों ही बना रहा। जीवन क्या है ?

:: प्रश्न हल करने का वास्तविक साधन ::

इतना होने पर जीव को निश्चय हुआ कि सांसारिक वन इष्ट जीवन नहीं, यह जगत् इष्ट लोक नहीं, प्रचलित मार्ग द्धिमार्ग नहीं। बाह्य बुद्धिज्ञान यथार्थ साधन नहीं। जीवनउद्देश्य, ीवन-लोक, जीवनसुख दुख, जीवन सिद्धि का मार्ग बाह्य जगत आश्रित नहीं। बाह्य जगत् की शक्तियों को भुला कर, उन्हें ्घ करके उन पर विजय करके या उन्हें व्यवस्थित करके जीवन ो सिद्धि नहीं हो सकती, सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, जीवन कोई

जीवन कोई गोरख ही चीज है। इसके जानने का साधन भी
ही है, बाह्यानुविज्ञान इसके लिये पर्याप्त नहीं।

यह जानने के लिये कि जीवन क्या है, यह जानना
कि जीव क्या होना चाहता है, और क्या होने से डरता है। इ
निर्णय अन्तर्ज्ञान के द्वारा हो सकता है। उस ज्ञान के द्वारा
अन्तर्गुहा प्रकाशक है। उस ज्ञान के द्वारा जो अन्तर्लोक में
हुई सत्ता को देख सकता है। उसकी वेदनामयी अनक्षरी
को सुन सकता है। उसके भावनामय अर्थ को समझ सकता
उस ज्ञान के द्वारा जो सहज सिद्ध है, स्वाश्रित है, प्रत्यक्ष है।
अन्तर्ज्ञान होने के कारण मनोवैज्ञानिक Intuition कहते है
जिसे अन्तर्ध्वनि सुनने के कारण अध्यात्मवादी श्रुतज्ञान कहते
जिसकी अनुभूति श्रुति नाम से प्रसिद्ध है।

इस ज्ञान को उपयोग में लाने के लिये साधक को शान्त
होना होगा। अपने को समस्त विकल्पों और दुविधाओं से पृ
करना पड़ेगा। निष्पक्ष एकटक हो पूछना होगा—जीवन
चाहता है? फिर निरक्षरी अन्तर्ध्वनि को सुनना होगा।

:: जीवन क्या है? ::

जीव जीवन चाहता है। ऐसा जीवन जो निरा अमृतमय
मरण शील न हो। जो स्वाधीन हो। किसी तरह भी जुदा न हो

। निकटतम हो, अभ्यन्तर हो, लय हो तनिक भी दोषयुक्त न
। जो सचेत हो, जाग्रत हो, ज्योतिष्मान् जाज्वल्यमान हो।
निक भी जड़ता, मन्दता अन्धकार जिसमें न हो। जो सुन्दर
ौर मधुर हो, ललाम और अभिराम हो, स्वयं अपनी लीला में
य हो। जो सम्पूर्ण हो, परिपूर्ण हो, जिसमें कोई भी वांछा न
। जो सर्वभू हो, अनन्त हो। जो सत्य हो, शाश्वत हो। जो
त्र में हो, सब उसमें हो, पर वह अपने सिवाय कुछ भी न हो,
ह वह ही वह हो।

यह है जीव का इष्ट जीवन। इसे पाना जीव का अन्तिम
द्देश्य। इसके प्रति कभी भय पैदा नहीं होता। कभी शंका
दा नहीं होती, कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रश्न उसी के प्रति
दा होता है जो अनिष्ट है, भयोत्पादक है—जैसे दुख और मृत्यु।
रन्तु इष्ट के प्रति कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। कभी शंका नहीं
उठती कि जीवन सुखी क्यों है, जीवन अमर क्यों है। इसका
कारण यही है कि इष्ट जीवन आत्मा का धर्म है, उसका वास्त-
विक स्वभाव है, आत्मा उसे निज स्वरूप मान स्वीकार करता है,
सदा उसकी प्राप्ति की भावना करता है। यह विवाद का विषय
नहीं। समस्या का विषय नहीं, यह भक्ति का विषय है, आसक्ति
का विषय है। सिद्धि का विषय है।

यह इष्ट जीवन अलौकिक है, अद्भुत और अनुपम है। इसे
आंख ने कभी देखा नहीं, कान ने कभी सुना नहीं, हाथ ने कभी

छुआ नहीं, शारीरिक पुरुषार्थ ने कभी सिद्ध किया नहीं, य शरीर से, इन्द्रियों से, मन से, वाणी से दूर है, परे है, अतः इसकी प्रतीति सदा दूर की होती है। नेति नेति के द्वारा इसका विवेचन होता है, तत् शब्द द्वारा इसका संकेत होता है।

: जीवन साध्य है। :

यह जीवन अन्तरात्मा की वस्तु है। यह उसमें वैसे ही निहित है, ओत-प्रोत है, जैसे अनगढ़ पाषाण में मूर्ति बिखरी रेखाओं में चित्र, मूक तारों में राग और वेखिली भावना में काव्य। यह भाव जब तक अभिव्यक्त नहीं होते, दिव्य नहीं होते, सोये पड़े रहते हैं, तब तक बाहर से देखने वालों को ऐसे मालूम होते हैं कि यह भिन्न है, इससे दूर हैं, महान् हैं। इनकी पाषाण से, रेखा से, तार से, भावना से क्या तुलना, क्या सम्बन्ध! यह बिलकुल तुच्छ हैं, हीन हैं, क्षुद्र हैं। ऐसे ऐसे उस पर हजार न्योछावर हो सकते हैं। यह दुर्लभ है, कष्टसाध्य है, अप्राप्य है।

वह मूर्ति बन जाता है। वह कितना माननीय व आदरणीय है। जब रेखाएं सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखाएं नहीं रहती, वे चित्र बन जाती है। कितनी रोचक व मनोरंजक है। जब तार झंकारने लगता है, वह तार नहीं रहता, वह राग बन जाता है। वह कितना मधुर व सुन्दर है! और जब भावना मुखरित हो उठती है, वह भावना नहीं रहती, वह काव्य बन जाती है। साक्षात् भाव बन जाता है। वह कितना महान् और स्फूर्तिमान है!

इस पाषाण और मूर्ति में, इस रेखा और चित्र में, इस तार और राग में, इस भावना और काव्य में कितना अन्तर है? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों के बीच अलक्ष्यता मूर्च्छा और अव्यवस्था का मरुस्थल है। जो अपनी अटल अलक्ष्यता, ज्ञान और पुरुषार्थ से इस दूरी को लांघ कर इस सिरे को उस सिरे से मिला सकता है। वह निःसन्देह एक कुशल कलाकार है। वह भूरि प्रशंसा और आदर का पात्र है। भगोड़ी लक्ष्मी उसके चरण को चूमती है और घातक काल स्वयं उसकी कीर्ति का रक्षक बनता है।

जीवन भी एक कला है। जब तक इष्ट जीवन का भाव इसमें अभिव्यक्त नहीं होता, यह बाहर से देखने वालों को अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त दूर, अत्यन्त अप्राप्य मालूम होता रहता है।

परन्तु वास्तव में इष्ट जीवन आत्मा से भिन्न नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। धर्म है। स्वरूप है। इसकी विभिन्नता वास्त-

थिक नहीं है। केवल अवसर की विभिन्नता है। यह मूर्च्छित है। वह जाग्रत है। यह भावनामयी है, वह भावमय है। इनकी दूरी क्षेत्र की दूरी नहीं है। केवल अव्यवस्था की दूरी है।

जब आत्मा में इस अलौकिक जीवन की भावना मूर्तिमान् हो जाती है, चित्रित हो जाती है, साक्षात् भाव बन जाती है, तब आत्मा आत्मा नहीं रहता, परमात्मा हो जाता है। वह ब्रह्म नहीं रहता, परब्रह्म बन जाता है। यह पुरुष नहीं रहता, पुरुषोत्तम बन जाता है।

इस आत्मा और परमात्मा में कितना अन्तर है ? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों के बीच भूल भ्रान्ति मिथ्यात्व अविद्या मोह तृष्णा का सागर लहरा रहा है। जो अपने ध्रुव लक्ष्य, सद्ज्ञान और पुरुषार्थ के बल से इस दूरी को लांघकर इस सिरे को उस सिरे से मिला देता है, मर्त्य को अमृत से मिला देता है, वह निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट कलाकार है। वह संसार-सेतु है। वह तीर्थंकर है। वह लोकतिलक है। जगद्वन्द्य है। काल उसका द्वारपाल है। इन्द्र चन्द्र उसके चारण हैं लक्ष्मी सरस्वती और शक्ति उसकी उपासक है।

यह मूल अज्ञान और मोह ही जीवन के अभ्युदय में सबसे बड़ा बाधक है। इनके आवेग में कुछ का कुछ दिखाई देता है, कहीं का कहीं चला जाना होता है। जो अनात्म है, असत्य है, [illegible] है, वह आत्मा सत् और [illegible] दिखाई देता है और [illegible] वास्तव में आत्मा सत्य और [illegible] है वह असत्य, मिथ्या और दु[illegible]

थाई देता है। जो दुख और मृत्यु का मार्ग है वह सुख और मृत का मार्ग और जो वास्तव में सुख और अमृत का मार्ग है, वह ख और मृत्यु का मार्ग दिखाई देता है। यही विपरीत दर्शन है।

यह भूल अज्ञान और मोह ही संसार दुःख और मृत्यु के कारण हैं। यही जीवन के महान् शत्रु हैं। इनकी विजय ही विजय है। जिसने इन्हें जीत लिया उसने दुःख शोक को जीत लिया, जन्म मरण को जीत लिया, लोक परलोक को जीत लिया, इनका विजेता वास्तव में जिनेश्वर है, अर्हत् है।

—: आत्मसिद्धि का मार्ग :—

भूल का अन्त, मिथ्या धारणा का अन्त, उसके पीछे पीछे चलने से नहीं होता, न उसके भुलाने से होता है और न उससे मुंह छिपाने से होता है। वह मरीचिका है, आगे ही आगे चलती रहती है। वह छाया पीछे ही पीछे चलती रहती है। वह सब ओर से घेरे हुए हैं, जहां जाओ साथ साथ लगी हुई है। उसका अन्त दायें बायें चलने से भी नहीं होता। उसका अन्त तो जहां हो वहीं से, उसी स्थान में होकर उसका सामना करने से होता है।

अज्ञान का अन्त उसकी मानी हुई बातों को मानने से नहीं होता, न संशय में पड़े रहने से होता, न अनिश्चतमति बनें रहने से होता है। उसका अन्त तो उसके मंतव्यों को उसके ज्ञातव्यों को स्पष्ट और साक्षात् करने से होता है। उन

नहीं हो जाता। वे अनादि काल से अभ्यास में आने के कारण श्चेतना की गहराई में पैठ गये हैं। वे किसी भी समय अङ्क-हो उठते हैं। वे निष्कारण ही आत्मा को उद्विग्न भ्रान्त और त बना देते हैं। जब तक उनके गुप्त संस्कारों का समूल उच्छेद हो जाता संसारचक्र का अन्त नहीं होता।

इन संस्कारों को निर्मूल करने के लिये निषेध के साथ विधि जोड़ना होगा। प्रमाद छोड़ कर सदा सावधान और जागरूक ा होगा। समस्त परम्परागत भावों संज्ञाओं और वृत्तियों से ने को पृथक् करना होगा। इन्द्रिय और मन को वाहर से हटा र ले जाना होगा। अपने में ही आप को लाना होगा। ध्यान-होना होगा।

अन्दर वैठकर निर्वात होकर ज्ञानदीपक जगाना होगा। न-प्रकाश को उसी के देखने में लगाना होगा जिसके लिये यह ा देखना जानना है, ढूंढ़ना भालना है। उसी की भावनाओं सुनना और समझना होगा, जो वेदनामयी निरक्षरी भाषा निरन्तर गाती रहती हैं, कि 'मैं' अजर, अमर हूं। तैजस और ोतिष्मान हूं।

इस अन्तर्ध्वनि के सामने समस्त लक्ष्यों को त्याग कर इसी ावनामय जीवन को आत्मउद्देश्य बनाना होगा। इसे ध्रुव मान दृष्टि में समाना होगा। आत्मा को निश्चयपूर्वक विश्वास ाना होगा—'सोऽहम्' 'सोऽहम् मैं वही हूं, मैं वही हूं।

समस्त निशानों को छोड़ ज्ञान उपयोग को इसी अनुभव जीवन में लगाना होगा। इसी जीवन को निखार और मांज करना होगा। अन्दर ही अन्दर देखना और जानना होगा- 'सोऽहम्' 'सोऽहम्'। समस्त लौकिक भावों और वृत्तियों से हटा ममत्व को इसी लक्ष्य में आसक्त करना होगा। इसी पर चलना होगा। इसी के पीछे जाना होगा। इसी के समता रस में भीगना होगा, सराबोर हो जाना होगा। निरन्तर अनुभव करना होगा 'सोऽहम्' 'सोऽहम्'।

संक्षेपतः यह मार्ग आत्मश्रद्धा, आत्मबोध, आत्मचर्या का मार्ग है। सत्यदर्शन, सत्यज्ञान, सत्यवृत्तिका मार्ग है। सत्य-पारमिता प्रज्ञा-पारमिता प्रज्ञा-पारमिता शील पारमिता का मार्ग है। सत्यदर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मार्ग है।

यह है वह विधि-निषेधात्मक सिद्धिमार्ग, जो गहरे से गहरे पैठे हुए संस्कारों को जीर्ण कर देता है, विध्वंस कर देता है। इनसे ढंकी हुई आत्मशक्तियों को मुक्त कर देता है। उन्हें जाग्रत और सचेत बना देता है। भावनामयी आत्मा को भावना के गह्वर से निकाल साक्षात भावात्मा बना देता है।

यह मार्ग बहुत कठिन है। अनेक परिग्रहों से सङ्कीर्ण है। इस पथ के अनुयायी को अनेकों प्राकृतिक मानुषिक विपदाओं और क्रूरताओं को सहन करना पड़ता है। अनेकों शारीरिक और मानसिक बाधाओं को झेलना होता है। इसके लिये अदमनीय उत्साह, दृढ़ सत्याग्रह और अटल साहस की जरूरत है। इतना ही नहीं,

ह मार्ग लम्बा भी बहुत है। इसके लिये दीर्घ पुरुषार्थ के श्रेणीबद्ध
भ्यास की, निरन्तर चलते रहने की जरूरत है। सोते-जागते,
लते-फिरते, खाते-पीते उठते-बैठते हर समय आत्मलक्षी
ात्मज्ञानी आत्मवृत्ति होने की आवश्यकता है। संकल्प है तो
सोऽहम्' विचार है तो 'सोऽम्' आलाप हैं तो 'सोऽहम्' आचार
तो 'सोऽहम्'। यहां तक कि यह मार्ग जीवन में उतर जाय,
ाक्षात् जीवन बन जाय, यहां तक कि 'वह' और 'मैं' का अन्तर
ी विलय हो जाय। आत्मा निरहङ्कार बन जाय, केवल वही वह
ह जाय।

यह सिद्धिमार्ग किसी बाह्य विधि-विधान, क्रियाकांड, परि-
ह आडम्बर में नहीं रहता। यह किसी भाषा, वाक्य या ग्रन्थ में
हीं रहता यह किसी सामाजिक प्रथा-संस्था या व्यवस्था में
हीं रहता। यह किसी पूजा-वन्दना, स्तुति-प्रार्थना में नहीं रहता।
ह साध्य के साथ ही अन्तरात्मा में रहता है। उसके उद्देश्यबल,
ानबल और पुरुषार्थबल में रहता है। यह त्रिशक्ति ही संसार की
ाधक है, यह त्रिशक्ति ही मोक्ष की साधक है। भेद केवल इनके
पयोग का है, इनकी गति का है। यदि इन शक्तियों को बाहर
ा हटा अन्तर्मुखी बना दिया जाय, इन्हें परसिद्धि की बजाय
ात्मसिद्धि में लगा दिया जाय, इन्हें बाह्य उद्देश्य, बाह्य-ज्ञान
ाह्य पुरुषार्थ से बदल कर आत्म-उद्देश्य, आत्म-ज्ञान, आत्म-
ुरुषार्थ में तबदील कर दिया जाय, तो यह त्रिशक्ति जीवन को
बजाय इस पार के उस पार ले जाने वाली हो जाती है। बजाय

संसार के मोक्ष को साधक बन जाती है। अन्यथा मृत्यु के म[illegible] साधक बन जाती है।

यह त्रिशक्ति आत्मा में ही रहती है, आत्म रूप ही है। वस्तुतः आत्मा ही साधक है, साधन है, और साध्य है। आत्मा पथिक है, पंथ है और इष्ट पद है।

यह त्रिशक्ति एकता में रह कर ही सिद्धी की साधक है अन्यथा नहीं। जैसे इनकी बाह्य मुखी एकता संसार की साधक है वैसे ही इनकी अन्तर्मुखी एकता मोक्ष की साधक है। जैसे संसार में किसी भी पदार्थ की सिद्धि केवल उसकी कामना करने से नहीं होती, केवल इसका बोध करने से नहीं होती, बल्कि कामना और बोध के साथ पुरुषार्थ जोड़ने से होती है, ऐसे ही परमात्मपद की सिद्धि केवल उसमें श्रद्धा रखने से, केवल उसे जान लेने से नहीं होती, बल्कि आत्मश्रद्धा, आत्म ज्ञान के साथ आत्म-पुरुषार्थ जोड़ लेने से होती है।

वास्तव में जो परमात्मपद को अपना उद्देश्य बनाता हुआ आत्मज्ञान से उसे देखता और जानता हुआ आत्म–पुरुषार्थ से उसकी ओर विचरता है, वही सत्य है, मार्ग है, जीवन है। वही धर्म है धर्ममूर्ति है, धर्मतीर्थ है, धर्म-अवतार है।

इसी तरह विचरते हुए जिसके समस्त संशयों का उच्छेद हो गया है, जिसकी समस्त ग्रन्थियाँ शिथिल हो गयी हैं, समस्त तृष्णाएँ शांत हो गयी हैं, समस्त उद्योग बंद हो गये हैं, जो

मलक्षी है, आत्मज्ञानी है, निरहङ्कार है, जिसने अपनी आशा
ने में ही लगा ली है, अपनी दुनिया अपने में ही वसा ली है,
नी ममता अपने में ही जमा ली है, वही कृत्य--कृत्य है, अचल
ईश हैं। उसके लिये कांच और कांचन क्या? शत्रु और मित्र
? स्तुति और निन्दा क्या? योग और वियोग क्या? जन्म
। मरण क्या? दुःख और शोक क्या? वह सूर्य के समान
स्वी है, वायु के समान स्वतन्त्र है, आकाश के समान निर्लेप
मृत्यु उसके लिए मृत्यु नहीं, वह मृत्यु का मृत्यु है, वह मोक्ष
द्वार है, वह महोत्सव है।

यह सिद्धिमार्ग वेषधारी का मार्ग नहीं, तथागत का मार्ग है।
का मार्ग नहीं, सन्मति का मार्ग है। यह निर्बल का मार्ग
ीं, वीर का मार्ग है।

—जयभगवान जैन, वकील

-: श्री पद्मावतीजी की ढाल :-

दोहा

मोटी सती पद्मावती, लीनो संजम धार।
अथिर संसार ने जाण के, छोड़्या विषय विकार ॥१॥
विरह पड़्यो राजा तणो, सती गई वन मांय।
पाप चितारे पाछला, ते सुणजो चित लाय ॥२॥

ढाल, राग वेराडी

हवे राणी पद्मावती, जीवराशि खमावे।
जाणपणो जग दोहिलो, इण वेला आवे ॥
ते मुझ मिच्छा मि दुक्कडं ॥१॥
अरिहंतनी साखे, जे मैं जीव विराधिया।
चौरासी लाख, ते मुझ मिच्छा मि दुक्कड़ं ॥ ते० २॥
सात लाख पृथ्वीकाय ना, साते अपकाय।
सात लाख तेउकायना, साते वली वाय ॥ ते० ३॥

। लाख प्रत्येक वनस्पति, चवदे साधारण ।

वी तीय चउरिंद्रिय जीवना, बे बे लाख प्रकार ।। ते० ४ ।।

ता तिर्यंच नारकी, चार चार प्रकाशी ।

चवदे लाख मनुष्य ना, एवं लाख चौरासी ।। ते० ५ ।।

सा कीधी जीव नी, बोल्या मृषावाद ।

दोष अदत्तादान ए, मैथुन उनमाद ।। ते० ६ ।।

रिग्रह मेल्यो कारमो, कीधो क्रोध विशेष ।

मान माया लोभ में किया, वली राग ने द्वेष ।। ते० ७ ।।

लह करी जीव दुहव्या, दीधा कूड़ा कलंक ।

निन्दा कीधी पारकी, रति अरति निश्शंक ।। ते० ८ ।।

ाड़ी खाधी चोंतरे, कीधो थापण मोसो ।

कुगुरु कुदेव कुधर्म रो, भलो आण्यो भरोसो ।। ते० ९ ।।

ण भव परभव सेविया, जे पाप अठार ।

त्रिविधे त्रिविधे करी परिहरूं, दुरगति ना दातार ।। ते० १० ।।

टीक ने भवे में किया, जीवना वध घात ।

चिड़ीमार भवे चिड़कला, मार्या दिन ने रात ।। ते० ११ ।।

छीमार भवे माछला, झाल्या जल वास ।

धीवर भील कोली भवे, मृग मार्या पास ।। ते० १२ ।।

काजी मुल्ला ने भवे, पढ्या मन्त्र कठोर ।

जीव अनेक हलाल किया, कीधा पाप अघोर ।। ते० १३ ।।

कोतवाल ने भवे में किया, आकरा कर दंड ।

बंदीवान मरावीया, कोड़ा छड़ी दड ।। ते० १४ ।।

-: मृत्यु-महोत्सव :-

मैंने अनादिकाल से कुमरण किये हैं जिनको सर्वज्ञ देव ही जानते हैं। एक भी बार सम्यक्त्व मरण नहीं किया। यदि सम्यक्त्व मरण करता तो संसार में फिर मृत्यु का पात्र नहीं होता। आत्मा का सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र यह स्वभाव है। उसे विषय कषाय से नष्ट न होने देकर मृत्यु को प्राप्त हो वह सुमरण या समाधिमरण है और जो मिथ्याश्रद्धा में लिप्त होकर देह के नाश को ही अपनी आत्मा का नाश जान कर मृत्यु को क्लेशमय बना दे वह कुमरण है। सो मैं मिथ्यादर्शन के प्रभाव से ज्ञान दर्शन का घात कर देह को अपना मान कर अनन्त परिवर्तन करता आया हूं। हे भगवान्? मैं ऐसी प्रार्थना करता हूं कि मृत्यु के समय मुझे वेदनामृत्यु तथा आत्मज्ञान रहित मृत्यु प्राप्त न होवें। क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग जन्म मरण रहित हो गये हैं। मै भी वीतराग सर्वज्ञ के शरण सहित सक्लेश रहित धर्मध्यान पूर्वक मरना चाहता हूं। वीतराग का ही शरण ग्रहण करना चाहता हूं। अब मैं अपनी आत्मा को समझाने का प्रयत्न करता हूं।

ओ आत्मा! कृमियों के जालों से भरा, नित्य जर्जर होता हुआ यह देह पिंजर है, इसके नष्ट होते तुम भय न करो, क्योंकि तुम तो ज्ञान शरीर हो। तुम्हारा रूप तो ज्ञान है। तुम अमूर्तिक ज्योति स्वरूप अखण्ड अविनाशी ज्ञाता दृष्टा हो। यह हाड़ चर्ममय दुर्गन्धित विनाशीक देह है, सो तुम्हारे रूप से भिन्न

है। कर्म के वशीभूत होकर एक क्षेत्र में अवगाहना युक्त स्थित हो। इसमें और तुममें अत्यन्त भेद है। यह देह पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन के परमाणुओं का पिंड है जो समय पाकर बिखर जावेंगे। तुम अविनाशी अखण्ड ज्ञायक रूप हो। इसके नाश होने में भय क्यों करते हो।

हे ज्ञानी आत्मा! तुम्हें वीतरागी सम्यग्ज्ञानी उपदेश करते हैं। तुम मृत्युरूप महोत्सव के प्राप्त होने पर क्यों भय कर रहे हो? यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित है। जैसे कोई एक जीर्ण कुटिया में से निकलकर अन्य नये महल को प्राप्त करता है और वहां उत्सव मनाता है। तेरे भी यह उत्सव का समय है। जीर्ण देह रूपी कुटी को छोड़ कर नये देह रूप महल को प्राप्त होने के महोत्सव का अवसर है। जो अपने ज्ञायक स्वभाव में स्थित मोह रहित होकर परलोक जावेंगे तो बड़े आदर सहित दिव्य धातु, उपधातु रहित वैक्रिय देह में देव होकर फिर पूज्य महान देव होओगे। और भय आदिकों से अपने ज्ञान स्वभाव को बिगाड़ कर परम समता को छोड़कर मरोगे तो एकेन्द्रिय की देह में अपने ज्ञान का नाश कर जड़ रूप को प्राप्त होओगे। ऐसे मलिन क्लेश सहित देह को त्याग कर क्लेश रहित देह में जाना तो बड़े उत्साह का कारण है। पूर्वकाल में हुए गणधरादिक सत्पुरुष ऐसे कहते हैं कि जिस मृत्यु को भली प्रकार प्राप्त कर स्वर्गलोक का सुख भोगते हैं, उस मृत्यु से क्यों भय हो सकता है? अपने कर्त्तव्य का फल तो मृत्यु के पश्चात् ही मिलता है। जो आज तक छह

छुआ नहीं, शारीरिक पुरुषार्थ ने कभी सिद्ध किया नहीं, या
शरीर से, इन्द्रियों से, मन से, वाणी से दूर है, परे है, अतः इसकी
प्रतीति सदा दूर की होती है। नेति नेति के द्वारा इसका विवेक
होता है, तत् शब्द द्वारा इसका संकेत होता है।

: जीवन साध्य है। :

यह जीवन अन्तरात्मा की वस्तु है। यह उसमें वैसे ही निहि
है, ओत-प्रोत है, जैसे अनगढ़ पाषाण में मूर्ति बिखरी रेखाओं
चित्र, मूक तारों में राग और बेखिली भावना में काव्य। यह भा
जब तक अभिव्यक्त नहीं होते, दिव्य नहीं होते, सोये पड़े रह
हैं, तब तक बाहर से देखने वालों को ऐसे मालूम होते हैं कि य
भिन्न है, इससे दूर हैं, महान् हैं। इनकी पाषाण से, रेखा से, ता
से, भावना से क्या तुलना, क्या सम्बन्ध! यह बिलकुल तुच्छ
हैं, हीन हैं, क्षुद्र हैं। ऐसे ऐसे उस पर हजार न्योछावर हो सकते
हैं। यह दुर्लभ है, कष्टसाध्य है, असाध्य है।

परन्तु वे इससे उतने भिन्न नहीं, उतने दूर नहीं कि वे इसमें
आ ही न सकें, समा ही न सकें। उनकी विभिन्नता जरूर है
परन्तु वह वास्तविक विभिन्नता नहीं, केवल [illegible]
है। यदि विधिवत् पुरुषार्थ किया जाय तो [illegible]
होकर वे भाव इसी से सिद्ध हो सकते [illegible]

जब पाषाण [illegible] हो जाता

ह मूर्ति बन जाता है। वह कितना माननीय व आदरणीय है। र रेखाएं सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखाएं नहीं रहती, वे त्र बन जाती है। कितनी रोचक व मनोरंजक है। जब तार कारने लगता है, वह तार नहीं रहता, वह राग बन जाता है। ; कितना मधुर व सुन्दर है! और जब भावना मुखरित हो ठती है, वह भावना नहीं रहती, वह काव्य बन जाती है। साक्षात् व बन जाता है। वह कितना महान् और स्फूर्तिमान है!

इस पाषाण और मूर्ति में, इस रेखा और चित्र में, इस तार र राग में, इस भावना और काव्य में कितना अन्तर है? हुत बड़ा अन्तर है। दोनों के बीच अलक्ष्यता मूर्च्छा और अव्य-स्था का मरुस्थल है। जो अपनी अटल अलक्ष्यता, ज्ञान और रुषार्थ से इस दूरी को लांघ कर इस सिरे को उस सिरे से मला सकता है। वह निःसन्देह एक कुशल कलाकार है। वह रि प्रशंसा और आदर का पात्र है। भगोड़ी लक्ष्मी उसके चरण ो चूमती है और घातक काल स्वयं उसकी कीर्ति का रक्षक नता है।

जीवन भी एक कला है। जब तक इष्ट जीवन का भाव इसमें अभिव्यक्त नहीं होता, यह बाहर से देखने वालों को अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त दूर, अत्यन्त अप्राप्य मालूम होता रहता है।

परन्तु वास्तव में इष्ट जीवन आत्मा से भिन्न नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। धर्म है। स्वरूप है। इसकी विभिन्नता वास्त-

साती ना भवे में किया, घणा रूंख वाड्या।
घोड़ा ने वली घणा, मुझ दूषण लाग्या ॥ ते० ३७॥
हाथी ना भवे मैं किया, किया रूंखों रा गोगाल।
पंखियां रा माला पाड़िया, भांगी तरुवर डाल ॥ ते० ३८॥
लोहार ना भवे मैं किया, घणा घवण धमाया।
फसी कुदाला पावड़ा, खड्ग कटारी कराया ॥ ते० ३९॥
ब्राह्मण ना भवे मैं किया, अणगल नीर स्नान।
ज्योतिष निमित्त भाखिया, लीया वर्जित दान ॥ ते० ४०॥
सती ने कुसती कही, कायर ने सूरा।
वेश्या ना दोय दीकरा, कह्या दोनूं पख पूरा ॥ ते० ४१॥
वजाज ना भवे मैं किया, जूना नवा कर वेच्या।
कूड़ कपट केलव्या घणा, पोते पापज संच्या । ते० ४२॥
सराफी ना भवे मै किया, भली करवा भाथ (दौलत)।
गालणी घणी करावतां, धन चाल्यो न साथ ।. ते० ४३।
अणछाण्या आघण दिया, अण पूंजे चूले।
अणजोया धानज धरीया, मुझ पाप न भूले ॥ ते० ४४
मेला तमाशा देखतां विषय नजर भर जोय।
कितोल हांसी ने मशकरी, करता नर कोय ॥ ते० ४५
जोर करी हींडे हींडना, तोड़ी तरुवर डाल।
काचा फल फूल चूंटिया, फोड़ी सरवर पाल ॥ ते० ४६
भोरा भरड़ा ने भवे अणहुंता नचाया।
- रा, भेंढा, बापड़ां, दोपे मिस मराया ॥ ते० ॥ ४

नावण घोवण मैं किया, वागा वेस बनाया ।
भारीसे मुख जोइया, बहु दोष लगाया ।। ते० ४८ ।।
सूल्या धान दलाविया, घणा घुण मसलाया ।
इलो दुःखी अति घणी, पोवे पाप कमाया ।। ते० ४९ ।।
फडियाना भवे मै किया, सूल्या धानज विणज्या ।
लोभ तणे वश परिग्रह, कारज कोई न सिज्या ।। ते० ५० ।।
पटवारी रा काम में, घणा कर्मज बांध्या ।
धीचारी मे (भरमाइने) भोलाविया, क्षण साचा सांध्या ते० ५१।।
वेपार कीनो पसारी तणो, घणी ओषवियाँ राखो ।
जीवां रा नाश किया घणा, कीकर रेसी नाको ।। ते० ५२ ।।
गुड़ खांड तेल घृत ना, विणज चोमासे कीना ।
जीव हत्या लगी घणी, कर्म खोटा कीना ।। ते० ५३ ।।
रंगरेजा ना भवे मैं, किया कसुंबा रंग्या ।
अणछण्या पाणी ढोलिया, लोभ तणी संग्या ।। ते० ५४ ।।
सोनी रा भवे मैं किया, सोना रूपा मैं भेल ।
पूरो तोलरे वाणीया, घरत न लाग्यो तेल ।। ते० ५५ ।।
वाघरी ने घरे जद वस्या, सब जीव संहार ।
रुधिर मांस भर्या रह्या, करता मांस आहार ।। ते० ५६ ।।
दासी वेश्याने कुले, चोरी जारी पाई ।
साते व्यसन सेविया, कुवुद्धि कूड़ कमाई ।। ते० ५७ ।।
दाईना भवे देखीया, आंवल मल असज्झाय ।
झूठ जाचक ते जिहां, राखिया सराय ।। ते० ५८ ।।

दा कीधी साधु की, सूधा साधु सताया।
गुरु संगे लागने, कर्म बहुला बधाया ॥ ते० ७० ॥
तण ने ते कारणे, केई रूंख कटाया।
ायण दाड़ीने मीसे, केई गोठ कराया। ते० ७१ ॥
ाकड़ डुवड़ केवला, रावल रात रमाया।
लि हरखे पातरियां कने, केई चरित कराया ॥ ते० ७२ ॥
रे कर्म किया केसा, पाप कीधा अपार।
दोष उदय आविया, हवे कुण आधार ॥ ते० ७३ ॥
ाद्ध भगवत अरु साधुनो, हवे शरणो होईजो।
ागवंतनो भजन कीजिए, सुर साहमो जाइ जो ॥ ते मुझ ७४ ॥
ामदृष्टि जीव ते सरधसी, सुणतां समता आवे।
ारी कर्मा जीवड़ा, सुणतां दुःख पावे ॥ ते मुझ० ७५ ॥
ाव अनत भमतां थकां, कियो कुटुम्ब संवध।
त्रिविधे त्रिविधे करी वोसरू, तिणसुं प्रतिवध ॥ तेमुझ७६॥
ाव अनंत भमतां थकां, कीधो काया सम्बन्ध।
त्रिविधे त्रिविधे करी वोसरूं, तिणसुं प्रतिवंध ॥ ते मुझ० ७७ ॥
ाव अनंत भमतां थकां, कोधो परिग्रह संवध।
त्रिविधे त्रिविधे करी वोसरूं, तिणसुं प्रतिवध ॥ ते मुझ० ७८ ॥
इण भव परभव में किया, कीधा पाप (असख्य) अखत्र।
त्रिविधे त्रिविधे करी वोसरूं, करूं जन्म पवित्र ॥ ते मुझ० ७९ ॥
हवे राणी पद्मावती, शरण लीया चार।
सागारी अणसण कियो, जाणपणा रो सार ॥ ते मुझ० ८० ॥
राग वेराड़ो जे सुणे, ये तीनी ढाल।
समय सुंदर कहे पाप थी, छूटे तत्काल ॥ ते मुझ० ८१ ॥

॥ इति श्री पद्मावती ढाल समाप्त ॥

श्री रत्नाकर पच्चीसी

शुभ केलिके आनन्द के घन के मनोहर धाम हो,
नरनाथ से सुरनाथ से पूजित चरण, गत काम हो।
सर्वज्ञ हो, सर्वोच्च हो सब से सदा संसार में,
प्रज्ञा, कला के सिन्धु हो, आदर्श हो आचार में ॥१॥
संसार दुःख के वैद्य हो, त्रैलोक्य के आधार हो,
जय श्रीश! रत्नाकर प्रभो। अनुपम कृपा-अवतार हो।
गत राग हैं विज्ञप्ति मेरी मुग्ध की सुन लीजिए,
तुम विज्ञ हो क्योंकि प्रभो। मुझको अभयवर दीजिए ॥२॥
माता पिता के सामने बोलो सुनाकर तोतली,
करता नहीं क्या अज्ञ बालक बाल्य-वश लीलावली?
अपने हृदय के हाल को वैसे यथोचित रीति से—
मैं कह रहा हूँ, आपके आगे तपित हो प्रीति से ॥३॥
मैंने नहीं जग में कभी कुछ दान दीनों को दिया,
मैं सच्चरित भी हूं नहीं, मैंने नहीं तप भी किया।
शुभ भावना मेरी हुई अब तक न इस संसार में,
मैं घूमता हूँ व्यर्थ ही भ्रम से भवोदधि-धार में ॥४॥

ोधाग्नि से मैं रात दिन हा ! जल रही हूं हे प्रभो,
। लोभ नामक सांप से काटी गयी हूं हे प्रभो !
ग्रभिमान के खल ग्राह से ग्रज्ञानवश मैं ग्रस्त हूं,
कस भांति हो स्मृत ग्राप, माया-जाल में मैं व्यस्त हूं । ५॥

लोकेश परहित भी किया, मैंने न दोनों लोक में,
सुख-लेश भी फिर क्यों मुझे हो, झोंकती हूं शोक में ।
मुझ तुल्य ही नर नारियों का जन्म जग में व्यर्थ है,
मानो जिनेश्वर वह जगत् की पूर्णता के अर्थ है ॥६॥

प्रभु, ग्रापने निज मुखसुधा का दान यद्यपि दे दिया,
यह ठीक है, पर चित्त ने उसका न कुछ भी फल लिया ।
ग्रानन्द-रस में डूब कर सद्वृत वह होता नहीं,
है वज्र सा मेरा हृदय, कारण पड़ा बस है यही ॥७॥

रत्नत्रयी दुष्प्राप्य है प्रभु से उसे मैंने लिया,
बहुकाल तक बहु वार जब जग का भ्रमण मैंने किया ।
हा ! खो गया वह भी विवश मैं नींद ग्रालस के रही,
ग्रब बोलिए उसके लिए रोऊं प्रभो क्या सब कहीं ? ॥८॥

संसार ठगने के लिए वैराग्य को धारण किया,
जग को हँसाने के लिए उपदेश धर्मों का दिया ।
झगड़ा मचाने के लिए मम जीभ पर विद्या बसी,
निर्लज्ज हो कितनी उड़ाऊं हे प्रभो ! ग्रपनी हंसी ॥९॥

पर दोष को कह कर सदा मेरा वदन दूषित हुग्रा,
पर पुरुष तन को देखकर हा नयन भी दूषित हुग्रा !

हा नित्य घटती आयु है पर पाप--मति घटती नहीं,
आई बुढ़ौती पर विषय से कामना हटती नहीं।
मैं यत्न करती हूं दवा में, धर्म में करती नहीं,
दुर्मोह-महिमा से ग्रसित हूं नाथ! बच सकती नहीं ॥१६॥
अघ, पुण्य को जग आत्म को मैंने कभी माना नहीं,
हा! आप आगे हैं खड़े दिननाथ से यद्यपि यहीं।
तो भी खलों के वाक्य को मैंने सुना कानों वृथा,
धिक्कार मुझको है, गया मम जन्म हो मानो वृथा ॥१७॥
सत्पात्र पूजन देव-पूजन, कुछ नहीं मैंने किया,
मैंने नहीं गृहस्थ-विधि का भी सविधि पालन किया।
नर-जन्म पाकर भी वृथा ही मैं उसे खोती रही,
मानो अकेली घोर वन में व्यर्थ ही रोती रही ।१८।
प्रत्यक्ष सुखकर जैन मत में प्रीति मेरी थी नहीं,
जिननाथ! मेरी देखिये यह मूढ़ता भारी यही।
हा! कामधुक् कल्पद्रु मादिक के यहां रहते हुए,
हमने गंवाया जन्म कोधिक् लाभ दुख सहते हुए ।१९॥
मैंने न रोका रोग-दुख संभोग-सुख देखा किया,
मन में न माना मृत्यु-भय धन-लाभ ही लेखा किया।
हा मैं अधम पुद्गल सुखों के ध्यान।
पर नरक-कारागार से मनमें ॥२०॥
सद्वृति से मन में न मैंने हा
उपकार करके कीर्ति भी कुछ

अशरणता

जनके आगे देववृन्द सब नतमस्तक रहते हैं,
। सुरेन्द्र भी अन्तकाल में, मृत्युकष्ट सहते हैं।
किसका है सामर्थ्य काल का भोग न होने देवे ?
कौन आज तक जनमा है जो आयु-वृद्धि कर लेवे ? ॥१॥

पुत्र मित्र परिवार दार सब जीवन के संगी हैं,
कौन सखा होगा लटकी जब काल-खड्ग नंगी है ?
काल-पाश में फँसते ही सब आश त्याग रोएंगे,
पाकर नव संयोग वही सुख की निद्रा सोएंगे। २॥

भरतखंड के अधिपति चक्री कितने भू पर आये ?
वासुदेव बलदेव काल के भीषण उदर समाये।
प्रबल शक्ति सम्पन्न सैन्य उनका-सा और कहाँ है ?
किन्तु धरातल पर क्या उनका नाम-निशान रहा है ॥३॥

कर करके उपचार न मैंने स्वजन बचा पाये हैं,
गये पुराने स्वयं स्वयं ही नये--नये आये हैं।
कौन बचाएगा मुझको जब मृत्यु--दूत घेरेंगे,
आसपास हो खड़े स्वजन सब टुकर--टुकर हेरेंगे ॥४॥

होते ही अवसान आयु का मित्र शत्रु बन जाते,
विष पीयूष, हितैषी भी हैं अहित-हेतु बन जाते।
कुसुम-दाम विकराल व्याल बन मृत्युसखी बन जाती,
अल्प-प्रबल कारण पा काया सदा न रहने पाती ॥५॥

आस्रव

र आस्रव को निर्मूल मुक्ति-अनुयायी !
आत्म-गुणों का शत्रु यही दुखदायी ॥
सार—वृक्ष का मूल इसे कहते हैं,
जल पा जिसके जग-जीव कलेश सहते हैं।
आस्रव-सरिता में चेतन-गुण बहते हैं,
कर्मों से घिरे सदैव जीव रहते हैं ॥
इसके कारण सन्मार्ग न दे दिखलाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति-अनुयायी ॥१॥

मिथ्यात्व प्रथम आस्रव प्रभु ने बतलाया,
मिट्टी में इसने हाय ! विवेक मिलाया।
कर सम्यग्ज्ञान—विनाश हमें भरमाया,
विद्वनों पर भी अपना चक्र चलाया।
घर में रह इसने घर में आग लगाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति-अनुयायी ! ॥२॥

मिथ्यात्व-पाश में फँस कर मनुज सयाना,
पशुओं से बदतर बना, बना दीवाना।
जीवन-हित यह सिखलाता विष का खाना,
इसके सेवन से मिला नरक—परवाना।

सागर का सारा जल लेकर, धो डाली गर देह,
फिर भी बना रहेगा ज्यों का त्यों अशुद्धि का गेह।
न शुचि होगा यह किसी प्रकार, हंस का जीवित० । ७ ।
गाय भैंस पशुओं की चमड़ी, आती सौ सौ काम,
हाथी दांत तथा कस्तूरी, बिकती मंहगे दाम।
नर तन किन्तु निपट निस्सार, हंस का जीवित० ।। ८ ।।
पशुओं का मल-मूत्र रोग का करता है प्रतिकार,
मानव का मल-मूत्र रोग का कारण अपरम्पार।
मानव-अहंकार बेकार, हंस का जीवित कारागार। ९ ।।
देख अपावन तन मानवगण, पा विरक्ति का लेश,
भक्ति-भाव से भजे निरन्तर, पावन परम जिनेश।
अशुचि का गेह देह साकार, हंस का जीवित कारा० ॥ १०
पावन वस्तु अपावन होती, पा शरीर-सयोग,
फिर भी चेतन ! चेत न तुझको, कैसा भीषण रोग ?
इसीसे बढ़ता है संसार, हंस का जीवित कारागार ।। ११
अशुचि भावना है विरक्ति का कारण सबल अनूप,
चिंतन कर चिंतन कर चेतन ! बन जा ज्योति स्वरूप,
शीघ्र ही होगा बेड़ा पार, हंस का जीवित करागार ।।

आस्रव

र आस्रव को निर्मूल मुक्त-अनुयायी !
आत्म-गुणों का शत्रु यही दुखदायी ।।
सार—वृक्ष का मूल विज्ञ कहते हैं,
न पा जिसके जग-जीव क्लेश सहते हैं।
आस्रव-सरिता में चेतन-गुण बहते हैं,
र्मों से घिरे सदैव जीव रहते हैं ।।
इसके कारण सन्मार्ग न दे दिखलाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति--अनुयायी ।।१।।

मिथ्यात्व प्रथम आस्रव प्रभु ने बतलाया,
मिट्टी में इसने हाय ! विवेक मिलाया।
कर सम्यग्ज्ञान—विनाश हमें भरमाया,
विद्वानों पर भी अपना चक्र चलाया।
घर में रह इसने घर में आग लगाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति-अनुयायी ! ।।२।

मिथ्यात्व--पाश में फँस कर मनुज सयाना,
पशुओं से बदतर बना, बना दीवाना।
जीवन--हित यह सिखलाता विष का खाना,
इसके सेवन से मिला नरक---परवाना।
सत् धर्म-देव-गुरु-शरण गहो हे भाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति-अनुयायी ।।३

जो वीतराग सर्वज्ञ लोकहितकारी,
हैं जीवन-मुक्त अशेष आत्मगुणधारी।
उनकी है कथनी सत्य तथ्य प्रियकारी,
कर ऐसी श्रद्धा बनो मार्ग—अनुसारी।
है धन्य—भाग्य यह श्रद्धा जिसने पाई,
कर आस्त्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी ! ।४

हे अविरति ! तू ने कैसा जाल बिछाया,
अपना जादू देवों पर खूब चलाया।
भोगों के लालच में मन को ललचाया,
दुनिया में भीषण है अंधेर मचाया।
निर्वाण-मार्ग के में गहरी खोदी खाई,
कर आस्त्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी ! ॥५।

ओ मुक्ति-मार्ग के पथिक ! न गाफिल होना,
मंजिल तक पहुँचे बिना न पथ में सोना,
चेतन-गुण चोरेगी प्रमाद की सेना,
सोने का भारी मूल्य पड़ेगा देना।
दस्यु प्रमाद ने गहरी ताक लगाई.
कर आस्त्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी ! ।।६

चौथा कषाय आस्त्रव है वीर निराला,
बहता इससे अति पाप-कर्म का नाला।
है मूर्छित चेतन पी कषाय की हाला,
सन्ताप पाप दुःख दुर्गति देने वाला।

जननी मलहर की यह नश्वर काया है,
अत्यन्त अशुचि दुखधाम महामाया है !
रत्नत्रय को ही द्वार मुक्ति का जाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥६॥
अपने अवगुण की जो निन्दा करते हैं,
पर पर-निन्दा से सदा काल डरते हैं।
गुणवानों के सद्गुण का गाते गाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥७॥
मन और इन्द्रियाँ वश में हैं हो जाती,
जिनकी चेतन चित्तवृत्ति रम जाती ।
धारा जिन सत्पुरुषों ने सुविरति बाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥८।
है मानव-जीवन सफल उसी नर-वर का,
जिसने सोखा जल सकल कर्म-सागर का।
अति पुण्यधाम महिमानिधान जग जाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना । ९॥
कर अन्त पाप का सुख अनन्त पाता है,
अपने प्रताप का सूरज चमकाता है।
वह नर पाता है दिव्य शक्तियाँ नाना,
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥१०॥
निर्जरा तत्त्व आराध मुक्ति के कामी,
बन गये देवपूजित त्रिलोक के स्वामी।
सीखा है जिनने जीवन सफल बिताना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥११॥
हे तात ! बात अवदात सुनो यह मेरी,
कर कर्म-चमू चकचूर हो रही देरी ।
निर्जरा भावना स्वच्छ हृदय से भाते,
वे पुरुष-रत्न हैं लोकोत्तर सुख पाते ॥१२॥

:: पापों का पछतावा ::

अपने पापों का पछतावा, मन वच से मैं करता हूं।
पुनः पाप मुझ से ने कभी हों, यही भावना रखता हूं।
दीन किसानों या श्रमिकों पर गहरा ब्याज लगाया हो।
रोकड़ खावे वही आदि में, झूठा जाल रचाया हो।
न्यायालय में रिश्वत देकर, प्रतिवादी झुठवाया हो।
झूठी साक्षी के बल पर, दोनों का माल बिकाया हो।
अपने पापों का ॥१॥

असली में नकली का मिश्रण, करके जगत ठगाया हो,
ब्लेक बजारी सट्टे बाजी, से यदि वित्त कमाया हो।
दम्भ कपट छल रिश्वत से, यदि धन को खूब बढ़ाया हो,
साहुकारी व्यापारों को मैंने भ्रष्ट बनाया हो।
अपने पापों का ॥२

देने में कम तोला हो, लेने में अधिक तुलाया हो।
तोल जोख के बाटों को, कम वेशी अगर बनाया हो,
इसी भांति देने लेने में, न्यूनाधिक नपवाया हो,
'फिस्टरेट' का बोर्ड लगा ग्राहक को अगर ठगाया हो।
अपने पापों का० ॥

वैठ जाति के बीच गरीबों से मृत-भोज कराया हो,
ब्याह आदि की रस्मों में, उनका घर द्वार [illegible]रा हो।

ग्रपने जाति जनों पर, ठाकुरपन दिखलाया हो,
राध भाई बहनों का, बहिष्कार कराया हो।
ग्रपने पापों का० ॥४॥

चौधरी बन विधवाओं, का यदि धन हड़पाया हो,
पराध जाति के लोगों, को यदि कभी सताया हो।
धन सम्पत्ति हरने को, षड्यन्त्र अनेक रचाया हो,
ायत के न्यायासन पर, मैंने दाग लगाया हो।
ग्रपने पापों का० ॥५॥

ृ विवाह किया हो मैंने, या पर का करवाया हो,
ल ब्याह कर निज संतति को, पौरुषहीन बनाया हो।
विधवाएं बढ़ाकर मैंने उनका भाग्य फुडाया हो।
ुनका पुनर्विवाह कराने में रोड़ा अटकाया हो।
ग्रपने पापों का ॥६॥

क्रय-विक्रय करवा कर यदि, अनमिल ब्याह कराया हो,
या कि कभी विधवा का मैंने, कच्चा गर्भ गिराया हो।
अन्तर्जाति विवाहों को यदि, मैंने पाप बताया हो,
या समाज हित के कामों में, मैंने शूल बिछाया हो।
ग्रपने पापों का० ॥७॥

जाति-पाँति के अहंकार वश, निज को ऊंच बताया हो,
पर को नीच बताकर मैंने अगर कभी ठुकराया हो।
भेद भाव गोरे काले का, मेरे मन में आया हो,
मैं शासक हूं वह शासित हैं, ऐसा भाव समाया हो।

अपने पापों का० ।८।

हरिजन और अछूतों को यदि, हीन जाति बतलाया हो,
मन्दिर और धर्म स्थानों में, आने से रुकवाया हो।
उनके मानवीय अधिकारों, को मैंने कुचलाया हो,
साम्यदृष्टि से नहीं देखकर, उन्हें अगर ठुकराया हो।
अपने पापों का० ॥९॥

देश–जाति हित--बाधक रस्म, रिवाजों को अपनाया हो,
परम्परागत उनको कह कर, विष को अगर घुलाया हो।
यदि सुधार करने में मैंने, दब्बूपन दिखलाया हो,
जाति सुधारक नवयुवकों को, साहस हीन बनाया हो।
अपने पापों का० ॥१०॥

सार्वजनिक सम्पत्ति पर मैंने, निज अधिकार जमाया हो,
भूली हुई किसी की वस्तु, को यदि कभी उठाया हो।
पर की रखी धरोहर को यदि मैंने कभी दबाया हो।
हितकारी संस्थाओं का यदि, मैंने धन हड़पाया हो,
अपने पापों का० ॥११॥

कभी किसी की सेवा करके, मन में घमण्ड बुलाया हो,
कभी दिया हो दान अगर तो, जगह २ प्रकटाया हो।
करके परउपकार किसी पर, यदि एहसान जताया हो,
आत्म प्रशंसा करके यदि, झूठा मान बढ़ाया हो।
अपने पापों का० ॥१२॥

[illegible] की को कभी चुराया हो,

[illegible] करते हैं। कदाचित् [illegible] भी न
[illegible] किया हो और पुन करके
[illegible] जगह में [illegible] हाथ जोड़ कर खड़ा हो
[illegible] स्वामी को नमस्कार करके, [illegible] अनाचीर्ण क
और पुकार कर कहे-प्रभो! मैंने [illegible] उसका प्रायश्चि
आचरण किया है, मैं [illegible] अनुसार [illegible]
आपकी साक्षी से स्वीकार करता हूं। अगर वह न्यून या अधि
हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

इस प्रकार निश्शल्य होकर फिर संथारा करे। जैसे [illegible]
रंग का कोयला आग में पड़ कर श्वेत वर्ण की राख के रूप में
परिणत हो जाता है, उसी प्रकार संथारा रूपी अग्नि में झोंकने
से आत्मा भी पाप की कालिमा को त्याग कर उज्ज्वल हो
जाती है। अतएव संथारा करने के इच्छुक साधक को ऐसे स्थान
पर जाना चाहिए जहां खान-पान, भोग-विलास के पदार्थ विद्यमान
न हों, संसार-व्यवहार सम्बन्धी शब्द और दृश्य सुनने तथा देखने
में न आवें। जहां त्रस एव स्थावर जीवों की हिंसा होने की
सम्भावना न हो। ऐसे उपाश्रय, पौषध-शाला आदि स्थान में
जाय। वहां जाकर जहां चित्त की समाधि का योग हो ऐसे
शिला आदि स्थानों को रजोहरण से आहिस्ते-आहिस्ते प्रमार्जन
करे। कचरे को किसी पाटी आदि पर ले ले और निर्जीव जगह
देख कर विधि-पूर्वक परठ दे। फिर लघुनीति और बड़ी नीति,
श्लेष्म और पित्त आदि को परठने की भूमिका का प्रतिलेखन
करे। वह भूमि हरितकाय, अंकुर, चींटी आदि के बिल वगैरह

सिवमयलमरुअं-उपद्रवरहित, अचल और रोगहीन

अणंतमक्खयं-अनन्त और अक्षय

मव्वाबाहमपुणरावित्ति-बाधा रहित तथा पुनर्जन्म से र

सिद्धिगइनामधेयं ठाणं-सिद्धिगति नामक स्थान को

संपत्ताणं-प्राप्त हुए

नमो जिणाणं-जिन भगवान् को नमस्कार हो।

यह 'नमुत्थुणं' सिद्ध भगवान् के लिए कहा। इसी दूसरी वार अरिहन्त भगवान् के लिए कहना चाहिए। अन्त है कि 'ठाणं संपत्ताणं' की जगह 'ठाणं संपाविउकामाए बोलना चाहिए। इसका अर्थ है—सिद्धि स्थान को प्राप्त हो।' फिर 'नमुत्थुणं मम धम्मगुरु-धम्मायरिय धम्मो जाव संपाविउकामस्स' अर्थात् मेरे धर्मगुरु, धर्माचार्य अ पदेशक यावत् मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी आचार्य को नमस्कार हो।

इस प्रकार वन्दना-नमस्कार करके, पूर्व में आ हुए सम्यक्त्व और व्रतों में आज इस समय तक, जा स्ववश, परवश भी कोई अतिचार लगा हो, उसकी विचारण करके उससे निवृत्त होता हूं। आत्म की उसकी निन्दा करता हूं, गुरु की साक्षी से करता हूं।

इस तरह कह कर भविष्य के लिए प्रत्याख्यान

:: संलेखना के पांच अतिचार ::

(१) इहलोग संसप्पओगे—इस संथारे के फलस्वरूप, मेरा कीर्ति, ख्याति, प्रतिष्ठा हो, लोग मुझे बड़ा त्यागी, वैरागी समझें, धन्य धन्य कहें, इस प्रकार इस लोक संबंधी आकांक्षा करने से अतिचार लगता है।

(२) परलोगासंसप्पओगे—मृत्यु के पश्चात् मुझे इन्द्र पद मिले, उत्कृष्ट ऋद्धि का धारक देव बनूं, चक्रवर्ती या राजा होऊँ, सुन्दर शरीर की प्राप्ति हो, संसार के भोगोपभोग प्राप्त हों, इत्यादि परलोक संबंधी आकांक्षा करने से यह अतिचार लगता है।

(३) जीवियासंसप्पओगे—संथारे में अपनी महिमा पूजा होती देख कर बहुत समय तक जीवित रहने की इच्छा करना।❀

(४) मरणासंसप्पओगे—क्षुधा, तृषा, आदि की पीड़ा से व्याकुल होकर जल्दी मर जावे की इच्छा करना ❀

(५) कामभोगासंसप्पओगे—काम-भोगों की इच्छा करना।

❀ अधिक जीना या जल्दी मरना किसी की इच्छा के अधिन नहीं है। इच्छा करने से आयु कम ज्यादा नहीं हो सकती, सिर्फ कर्म का बन्ध होता है। अतएव व्यर्थ कर्म-बन्ध नहीं करना चाहिये।

— — संलेखना वाले की भावना —

(१) अहा! पुद्गल के परमाणुओं के मिलने पर इस शरीर पिण्ड का निर्माण हुआ था। देखते-देखते ही इसका प्रलय होने लगा! पुद्गलों का संयोग ऐसा विनाशशील है!

(२) प्रभो! आपने कहा था—'अधुवे असासयंमि' अर्थात् यह जीवन अध्रुव (अस्थिर) और अशाश्वत (अनित्य) है, आपके इस कथन पर इतने दिन तक मैंने ध्यान नहीं दिया। अब शरीर की यह विनाशशील दशा देख कर मुझे निश्चय हो गया है कि आपका कथन पूर्ण रूप से सत्य है।

(३) जिस प्रकार मनुष्यों का एक जगह इकट्ठा हो जाना मेला कहलाता है और कालान्तर में उनके बिखर जाने पर शून्य अरण्य हो जाता है, उसी प्रकार अनेक मनुष्यों के मिल जाने पर कुटुम्ब का मेला लग जाता है और पुद्गलों के संयोग से शरीर का मेला बन जाता है। मगर चार दिन बाद ही वह बिखरने लगता है! इसमें हर्ष या विषाद करना उचित नहीं है। जैसे मेले में शामिल होने वाले लोग बिखरते समय चिन्ता या शोक नहीं करते, उसी प्रकार कुटुम्ब या शरीर का मेला बिखरते समय मुझे भी शोक करना योग्य नहीं है। संयोग का फल वियोग है। चिन्त [illegible]

करके भी कोई वियोग से

ता या मोह करके अपनी आत्मा को अशान्त और मलीन
करने की क्या आवश्यकता है ?

(४) इस जगत् का न कोई कर्ता है, न कोई हर्ता है।
सभी पदार्थ स्वभाव से ही मिलते बिछुड़ते हैं। शरीर का संयोग
स्वभाव से ही हुआ है और स्वभाव से ही मिटने वाला है। मैं
संयोग बनाये रखना चाहूं तो रह नहीं सकता और बिगाड़ना चाहूं
तो बिगाड़ नहीं सकता। तो फिर इसके बिगड़ने की चिन्ता में क्यों
पड़ूँ ? जो होना होगा सो आप ही हो जायगा।

(५) मैं अजर, अमर, अविनाशी, अमूर्ति, सच्चिदानन्द हूँ
और शरीर विनश्वर, मूर्तिक और जड़ रूप है। शरीर का नाश
होने पर भी मेरे स्वभाव का कदापि नाश नहीं हो सकता। तब इस
शरीर की चिन्ता मैं क्यों करूं ?

(६) हे जिनेन्द्र ! मैं अविवेक के कारण इस शरीर को
अपना मानता था। पर अब मुझे भास हुआ है कि वह मेरी
भ्रान्ति थी—भूल थी। वास्तव में शरीर मेरा नहीं है। यह मेरी
इच्छा के अनुसार चलता नहीं है। मैं कब चाहता था कि यह बूढ़ा
हो जाय ? मैंने कब इच्छा की थी कि अब अंगोपांग शक्ति हीन,
शिथिल और जर्जरित हो जाएं ? मेरी इच्छा नहीं थी कि यह
शरीर, नाना प्रकार के रोगों का घर बन जाय। फ़िर भी यही
हुआ। मेरी इच्छा न होने पर भी यह मेरे शत्रु रोगों से मिल गया
और इसने बुढ़ापे को स्वीकार कर लिया। अगर यह मेरा होता

तो मेरे दुश्मनों से क्यों मिल जाता ? मुझे दुःखी करने के लिए क्यों तैयार होता ? ऐसे स्वामी द्रोही शरीर को अपना मानना उचित नहीं है। अब मैं समझ गया—अब यह मेरा नहीं है। चाहे रहे चाहे जाय !

(७) हे भोले जीव ! इस शरीर को माता-पिता अपना पुत्र कहते हैं, भ्राता और भगिनी अपना भाई कहते हैं, काका-काकी अपना भतीजा कहते हैं, मामा और मामी अपना भानजा कहते हैं, पत्नी अपना पति कहती है, पुत्र-पुत्री अपना पिता कहते हैं, इत्यादि सब इसे अपना-अपना कहते हैं और तू इसे अपना कहता है। अब कह, यह शरीर वास्तव में किसका है ? परम दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि यह किसी का नहीं है, क्योंकि कोई भी इसे रखने में समर्थ नहीं है। अतएव सब कुटुम्बियों और संबंधियों से ममत्त्व का त्याग कर निश्चित समझ ले कि तू सच्चिदानन्द-स्वरूप है। अतएव अब निज स्वभाव में रमण करना ही मुझे उचित है।

(८) रे आत्मन् ! यह शरीर-सम्पदा इन्द्रजाल की माया समान है। कहा भी है:-

बालो यौवनसम्पदा परिगतः, क्षिप्र क्षितौ लक्ष्यते।
वृद्धत्वेन युवा जरापरिणतो व्यक्तं समालोक्यते।
...क्वापि गतः कृतान्तवशतो न ज्ञायते सर्वथा,
...परैस्तैरिन्द्र जालैः सखे ॥
...शतक

के बिना स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम सुखों की प्राप्ति नहीं हो
ो। अतः हे सुबुद्धी आत्मन्! तुझे समाधिमरण करना
त है।

(१७) कल्पवृक्ष की छाया में बैठकर जो जैसी शुभ या
ा भावना करता है, उसे वैसा ही शुभ या अशुभ फल प्राप्त
है। अर्थात् शुभ अभिलाषा का शुभ फल और अशुभ अभि-
ा का अशुभ फल प्राप्त होता है। यह मृत्यु भी कल्पवृक्ष के
न है। मृत्यु की छाया में बैठकर अर्थात् मृत्यु के समय में जो
य-कषाय की भावना करता है, मोह-ममता आदि मलीन
ानाओं का सेवन करता है, वह नरक और तिर्यञ्च आदि
तियों के दुःखों का भागी बनता है। इसके विपरीत जो सम्य-
युक्त त्याग, वैराग्य, व्रत, नियम, सत्य, शील, दया, क्षमा आदि
ों का आराधन करता हुआ समाधिभाव धारण करता है, वह
र्ग-मोक्ष के सुखों का भाजन बनता है। इसलिए मृत्यु रूपी
पवृक्ष को पाकर अब शुभ भाव रखना ही योग्य है, जिससे
मानन्द-परमसुख की प्राप्ति हो सके।

(१८) अशुचि से परिपूर्ण, फूटे हुंडे के समान सदैव स्वेद,
ाल्म, मल, मूत्र, आदि घिनावनी वस्तुएं बहाने वाले इस जर्जरित
ादारिक शरीर के फंदे से छुड़ा कर अशरीर (सिद्ध भगवान्)
ाने वाला या देवता के दिव्य शरीर को प्रदान करने वाला
माधिमरण ही है। अतएव समाधिमरण का स्वागत करना ही
है।

(१९) जैसे धर्मोपदेशक मुनि महात्मा अनेक नय, उप
प्रमाण, हेतु, दृष्टान्त आदि के द्वारा शरीर का स्वरूप समझा
ममता को घटाने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार मेरे शरीर
उत्पन्न हुआ यह रोग भी मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा मानो उपदेश
रहा है कि—अरे जीव ! तू इस शरीर पर क्यों ममता करता है
यह शरीर तेरा तो है नहीं। यह तो मेरे स्वामी काल का भक्ष
है। अब तू इस पर अपनी ममता त्याग दे।

(२०) कि बहुना, यह शरीर मुझे तो मुनिराज से भी
अधिक असरकारक उपदेश देने वाला मालूम होता है। क्योंकि
जिस शरीर को मै प्राण-प्यारा समझ कर अनेक उपचारों से पाल
पोस कर फूला नहीं समाता था और जिसकी सुन्दरता तथा कोम-
लता आदि गुणों पर लुब्ध और मुग्ध हो रहा था, उस शरीर
को ममता मुनिराज के उपदेश से भी छूटना कठिन थी। किन्तु
रोग होने पर अनेक प्रकार के उपचारों से निराश करके शरीर
ने वह ममता सहज ही छुड़ा दी।

(२१) हे जीव ! यदि तू रोग–जन्य दुःख से घबराता हो,
सचमुच ही यह रोग तुझे अप्रिय प्रतीत होता हो और इस दुःख
से अगर तू ऊब गया हो तो अब तू बाह्य उपचार का परित्याग
कर दे। क्योंकि यह रोग कर्माधीन है। कर्माधीन रोग या कष्ट
को मिटाने की सत्ता बाह्योपचार में नहीं है। कदाचित् एकाध रोग
कुछ कम भी हो गया तो क्या हुआ ? हमेशा के लिए तो वह

महामूल्य गुणों को खरीद लेना ही कुशलता है।

(२८) सुभटगण धनुर्विद्या आदि का अभ्यास करके और प्रयोग के द्वारा उसकी साधना करके सुसज्जित रहते हैं और जब कभी शत्रु का सामना होता है तो सिद्ध की हुई उस विद्या के द्वारा शत्रु को पराजित करके अपने किये हुए श्रम को सार्थक समझते हैं। इसी प्रकार हे प्राणी! तूने इतने दिनों तक जो ज्ञानाभ्यास किया है, तप और संयम की महान् साधना की है, वह इसी अवसर के लिए तो की है। उस साधना की सार्थकता आंकने का यही समय है। यह समय जब आ पहुंचा है तो अब सच्चे अन्तःकरण से, परिपूर्ण निर्भयता के साथ रोग एवं मृत्यु आदि शत्रुओं का मुकाबिला कर। उनके सामने डट कर खड़ा हो जा और अपना चिरप्रतीक्षित ध्येय साध ले।

(२६) लोक में उक्ति प्रचलित है—'अतिपरिचयादवज्ञा' अर्थात् जिसके साथ अत्यन्त परिचय हो जाता है, उससे स्वभावतः प्रीति कम हो जाती है। इस उक्ति के अनुसार शरीर के प्रति तेरी प्रीति अब कम हो जानी चाहिए, क्योंकि शरीर के साथ तेरा अनादिकाल का परिचय है।

(३०) उपयोग में लाते-लाते सुन्दर वस्त्र भी जब जीर्ण हो जाता है तो उस पर ममता नहीं रहती। उसे उतार कर फेंक दिया जाता है और हर्ष के साथ नूतन वस्त्र धारण कर लिया जाता है। इसी प्रकार यह औदारिक शरीर अनेक कामों में आने

से, दोनों के संयोग से तथा तप, संयम, विनय, वैयावृत्य आदि के काम में लाने से जीर्ण हो गया है। अब इसका परित्याग करके नूतन दिव्य देवशरीर को प्राप्त करना है। इसमें विषाद का क्या कारण है? पुराना वस्त्र उतार कर ही नया धारण किया जाता है, इसी प्रकार इस शरीर का त्याग करने पर ही देवशरीर की प्राप्ति हो सकती है। ऐसी दशा में इस जीर्ण-शीर्ण शरीर का त्याग करने में झिझकने की क्या जरूरत है?

महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

एक सरल परिचय

जन्म: दादिया ग्राम [किशनगढ़] वि० सं० १९७८ भाद्रपद कृष्णा सप्तमी, मंगलवार।

दीक्षा: संवत् १९९४ फाल्गुन वदि ११ रविवार नोखा में पूज्य प्रवर्तक श्री हजारीमलजी महाराज सा० की आज्ञानुवर्तिनी महासती श्री सरदार कुंवरजी म० के कर कमलों द्वारा।

अध्ययन: जैन दर्शन व अन्य भारतीय दर्शन, साहित्य संस्कृति व विभिन्न सात भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, उर्दू व अंग्रेजी) का परिज्ञान।

विहार:—राजस्थान, पंजाब, काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा व उत्तरप्रदेश।

अन्य गुण:—सहज मधुर व सरल मानस, अदम्य उत्साह, दृढ़ [illegible] व अटूट साहस। स्पष्ट व निर्भीक जीवन एवं [illegible]

-: साहित्य सर्जना :-

(१) हिम और आतप ।

(२) समाधि मरण भावना ।

(३) योग शास्त्र ।

(४) कायापुर पट्टन का पत्र ।

(५) आम्र मंजरी ।

(६) उपासक और उपासना ।

(७) पंचामृत ।

(८) [illegible] ।

(९) [illegible] ।

-: साहित्य सर्जना :-

1. (१) हिम और आतम।
2. (२) समाधि मरण भावना।
3. (३) योग शास्त्र।
4. (४) कायापुर पट्टन का पत्र।
5. (५) आम्र मंजरी।
6. (६) उपासक और उपासना।
7. (७) पंचामृत।
8. (८) अर्चनांजलि।
9. (९) जीवन संध्या की साधना।

रामजस [illegible] (जो० [illegible]) द्वारा —

[illegible] प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर में मुद्रित।